बापू
लेखक
घनश्यामदास बिड़ला

सर्वोदय साहित्य माला : १०१ वां ग्रंथ

बापू

लेखक
घनश्यामदास बिड़ला

स्ता साहित्य मण्डल, नई दिल्ली

अक्तूबर १९४० ३०००
फरवरी १९४१ ५०००
नवबर १९४२ ५०००

मूल्य

बारह आना

प्रकाशक
मार्तण्ड उपाध्याय, मंत्री,
सस्ता साहित्य मण्डल,
नई दिल्ली

मुद्रक
देवीप्रसाद शर्मा,
हिन्दुस्तान टाइम्स प्रेस,
नई दिल्ली

आदि वचन

यदि भगवद्‌गीताके बारेमें लिखना आसान हो, तो गांधीजी के बारेमें भी लिखना आसान होसकता है, क्योंकि भगवद्‌गीता पर लिखा हुआ भाष्य न केवल गीता-भाष्य होगा, बल्कि भाष्यकार के जीवनका वह दर्पण भी होगा। जैसे गीतारहस्य लोकमान्य के जीवनका दर्पण है, वैसे ही अनासक्तियोग गांधीजीके जीवन का दर्पण है। ठीक उसी तरह गांधीजीके जीवनकी समीक्षा करने में लेखक अपने जीवनका चित्र भी उसी समीक्षाके दर्पणमें खींच लेता है।

एक बात और। जैसे गीता सबके लिए एक खुली पुस्तक है उसी तरह गांधीजीका जीवन भी एक खुली पुस्तक कहा जा सकता है। गीताको बड़े-बड़े विद्वान तो पढ़ते ही है, हजारों श्रद्धालु लोग भी, जो प्राय निरक्षर होते हैं, उसे प्रेमसे पढ़ते है। गांधीजी के जीवनको—विशेषत उनकी आत्मकथाको—भी यही बात है। जैसे गीता सबके कामकी चीज है, वैसे गांधीजी भी सबके कामके हैं। गीतासे बड़े विद्वान अधिक लाभ उठाते हैं, या निरक्षर किंतु श्रद्धालु भक्त अधिक उठाते हैं, यह विचारने योग्य प्रश्न है। यही बात गांधीजीके विषयमें भी है। उनके जीवनको—उनके सिद्धांतोंको—समझनेके लिए न तो विद्वत्ताकी आवश्यकता है, न लेखनशक्तिकी। उसके लिए तो हृदय चाहिए। मुझे पता नहीं, श्री घनश्यामदासजीका नाम विद्वानों या लेखकोंमें गिना जाता है या नहीं, किंतु धनिकोंमें तो गिना ही जाता है। परंतु उन्होंने धनकी मायासे अलिप्त रहने और अपने हृदय को स्फटिक-सा

निर्मल या बुद्धि एव वाणीको सत्यपूत रखने का यथासाध्य प्रयत्न किया है। और उस हृदय, बुद्धि और वाणीसे की गई यह समीक्षा, बिडलाजी आज अच्छे विद्वान या लेखक न माने जाते हो तो भी, समीक्षाकी उत्तम पुस्तकोंमे स्थान पायेगी और हिदी के उत्कृष्ट लेखकोमें उनकी गणना करायेगी।

यो तो श्री घनश्यामदासजीकी लेखन-शक्तिका परिचय जितना मुझे है उतना हिदी-जगतको शायद न होगा। मै तो कई सालसे उनके सम्पर्कमें हू, उनके हिदी भाषामें लिखे हुए पत्र मुझे सीधी-सादी, तुली-तुली और सारगर्भित शैलीके अनुपम नमूने मालूम हुए है। और जबसे म उस शैली पर मुग्ध हुआ हूं, तबसे सोचता हूं कि बिडलाजी कुछ लिखते क्यो नही ? मुझे बडा आनद होता है कि इस पुस्तकमे उसी आकर्षक शैलीका परिचय मिलता है जिसका कि उनके पत्रोमे मिलता था।

गाधीजीके सम्पर्कमे आये बिडलाजीको २५ वर्ष होगये है। इस पच्चीस सालके सबधके बारेमे वह लिखते है —

"जबसे मुझे गाधीजीका प्रथम दर्शन हुआ, तबसे मेरा-उनका अविच्छिन्न सबध जारी है। पहले कुछ साल म समालोचक होकर उनके पास जाता था, उनके छिद्र ढूढनेकी कोशिश करता था, क्योकि नौजवानोके आराध्य लोकमान्यकी ख्यातिका इनकी ख्याति टक्कर लगाने लग गई थी, जो मुझे रुचिकर नही मालूम होता था। पर ज्यो-ज्यो छिद्र ढूढनेके लिए मै गहरा उतरा त्यो-त्यो मुझे निराश होना पडा और कुछ अरसेमे समालोचककी वृत्ति आदरमें परिणत होगई और फिर आदरने भक्तिका रूप धारण कर लिया। बात यह है कि गाधीजीका स्वभाव ही ऐसा है कि कोई विरला ही उनके सम्पर्कसे बिना प्रभावान्वित हुए छूटता है।" इतना मैं जानता हू कि घनश्यामदासजी बिडला तो नही छूटे। वह

लिखते हैं . "गाधीजीसे मेरा पच्चीस सालका ससर्ग रहा है। मैंने अत्यन निकटसे, सूक्ष्मदर्शकयत्रकी भाति, उनका अध्ययन किया है। समालोचक होकर छिद्रावेषण किया है। पर मैंने उन्हे कभी सोते नही पाया।" यह वचन गाधीजीके बारेमे तो सत्य है ही, पर बिड़लाजीके बारेमे भी काफी अशमें सत्य है। क्योंकि गाधीजी न सिर्फ खुद ही सोते है, बल्कि जो उनके प्रभाव में आते है उनको भी नही सोने देते।

यह पुस्तक इस जाग्रत अध्ययन, अनुभव और समालोचनका एक सुदर फल है। उन्होने एक-एक छोटी-मोटी बातको लेकर गाधीजीके जीवनको देखनेका प्रयत्न किया है। गाधीजीसे पहले-पहल मिलनेके बाद बिड़लाजीने उनको एक पत्र लिखा। जवाब मे एक पोस्टकार्ड आया, 'जिसमें पैसे की किफायत तो थी ही, पर भाषा की भी काफी किफायत थी।' बात तो मामूली-सी है, परन्तु उसमेंसे गाधीजीके जीवनकी एक कुजी उन्हे मिल जाती है। "पता नही, कितने नौजवानो पर गाधीजी ने इस तरह छाप डाली होगी, कितनोको उलझनमें डाला होगा, कितनोके लिए वह कुतूहलकी सामग्री बने होगे। पर १९१५ मे जिस तरह वह लोगोके लिए पहेली थे, वैसे ही आज भी है।" यह सही है, पर इस पुस्तकमे हम देखते है कि उनके जीवनकी कई पहेलिया घनश्यामदासजी ने अच्छी तरह सुलझाई है।

गीता इतना सीधा-सादा और लोकप्रिय ग्रथ होने पर भी पहेलियोसे भरा हुआ है। इसी तरह गाधीजीका जीवन भी पहेलियोसे भरा पडा है। कुछ रोज पहले रामकृष्ण-मठके एक स्वामीजी यहा आये थे। बडे सज्जन थे, गाधीजीके प्रति बडा आदर रखते थे और गाधीजीकी ग्रामोद्योग-प्रवृत्ति अच्छी तरह समझनेके लिए और कातने-बुननेकी क्रिया सीखकर अपने समाज

में उसका प्रचार करनेके लिए वह यहा आये थे। एक रोज मुझसे वह पूछने लगे, "गाधीजीके जीवनकी एकाग्रता देखकर मै आश्चर्य-चकित होता हू, और उनकी ईश्वर-श्रद्धा देखकर भी। क्या गाधीजी कभी भावावेश में आजाते है ? क्या दिनमे किसी समय वह ध्यानावस्थित होकर बैठते है ?" मैने कहा— 'नही।" उनके लिए यह बडी पहेली होगई कि ऐसे कोई बाह्य चिह्न न होते हुए भी गाधीजी बडे भक्त है और योगी है। गाधीजीके जीवन मे ऐसी कई पहेलिया है। उनमेंसे अनेक पहेलियोको हल करनेका सफल प्रयत्न इस पुस्तकमे किया गया है।

एक उदाहरण लीजिए। अहिसाने क्या सब वस्तुओकी रक्षा होसकती है ? यह प्रश्न अक्सर उपस्थित किया जाता है। इस प्रश्नका कैसी सुदर भाषामे बिडलाजीने उत्तर दिया है :

"धन-सम्पत्ति-सग्रह, माल-जायदाद इत्यादि की रक्षा क्या अहिसामे होसकती है ? हो भी सकती है और नही भी। जो लोग निजी उपयोगके लिए सग्रह लेकर बैठे है, सम्भव नही कि वे अहिसा-नीतिके पात्र हो। अहिसा यदि कायरताका दूसरा नाम नही, तो फिर सच्ची अहिसा वह है जो अपने स्वार्थके लिए सग्रह करना नही सिखाती। अहिसकको लोभ कहा ? ऐसी हालतमे अहिसक को अपने लिए सग्रह करनेकी या रक्षा करनेकी आवश्यकता ही नही होती। योग-क्षेमके झगडेमे शायद ही अहिसाका पुजारी पडे।

'नियोगक्षेम आत्मवान्'—गीता ने यह धर्म अर्जुन जैसे गृहस्थ व्यक्ति का बताया है। यह तो सन्यासी का धर्म है—ऐसा गीता ने नही कहा। गीता सन्यास नही, कर्म सिखाती है, जो गृहस्थ का धर्म है। अहिसावादी का भी शुद्ध धर्म उसे योग-क्षेम के झगडे से दूर रहना सिखाता है। पर सग्रह करना और उसकी रक्षा करना 'स्व' और 'पर' दोनो के लाभ के लिए होसकता है।

जो 'स्व' के लिए सग्रह लेकर बैठे है, वे अहिसा-धर्मकी पात्रता सम्पादन नही कर सकते। जो 'पर' के लिए सग्रह लेकर बैठे है, वे गाधीजीके शब्दो मे 'ट्रस्टी' है। वे अनासक्त होकर योग-क्षेम का अनुसरण कर सकते है। वे सग्रह रखते हुए भी अहिसावादी है, क्योकि उन्हे सग्रहमे कोई राग नही। धर्मके लिए जो सग्रह है, वह धर्म के लिए अनायास छोडा भी जासकता है और उसकी रक्षाका प्रश्न हो तो वह तो धर्ममे ही की जासकती है, पापसे नही। इसके विपरीत जो लोग सग्रहमे आसक्त है, वे न तो अहिसा-त्मक ही होसकते है, न फिर अहिसासे धनकी रक्षाका प्रश्न ही उनके सबधमे उपयुक्त है। पर यह सम्भव है कि ऐसे लोग हो, जो पूर्णत: अहिसात्मक हो, जो सब तरहसे पात्र हो, और अपनी आत्मशक्ति द्वारा, यदि उन्हे ऐसा करना धर्म लगे तो, किसीके सग्रहकी भी वे रक्षा कर सके।

"पर यह कभी न भूलना चाहिए कि अहिसक और हिसक मार्गकी कोई तुलना है ही नही। दोनोके लक्ष्य ही अलग-अलग है। जो काम हिसासे सफलतापूर्वक होसकता है—चाहे वह सफलता क्षणिक ही क्यो न हो —वह अहिसासे हो ही नही सकता। मसलन हम अहिसात्मक उपायोसे साम्राज्य नही फैला सकते, किसीका देश नही लूट सकते। इटली ने अबीसीनियामें जो अपना साम्राज्य-स्थापन किया, वह तो हिसात्मक उपायो द्वारा ही हो-सकता था।

"इसके माने यह है कि अहिसासे हम धर्मकी रक्षा कर सकते है, पापकी नही और सग्रह यदि पाप का दूसरा नाम है तो सग्रह-की भी नही। अहिसामे जिन्हे रुचि है, वे पापकी रक्षा करना ही क्यो चाहेगे? अहिसाका यह मर्यादित क्षेत्र यदि हम हृदयगम करलें, तो इससे बहुत-सी शकाओका समाधान अपनेआप हो-

जायगा। बात यह है कि जिस चीजकी हम रक्षा करना चाहते हैं वह यदि धर्म है, तब तो अहिंसात्मक विधियोसे विपक्षीका हम सफलतापूर्वक मुकाबला कर सकते हैं। और यदि यह पाप है, तो हमें स्वय उसे त्याग देना चाहिए, और ऐसी हालत में प्रतिकार का प्रश्न ही नहीं रहता।

"यह निर्णय फिर भी हमारे लिए बाकी रह जाता है कि 'धर्म क्या है, अधर्म क्या है ?' पर धर्माधर्मके निर्णयमें सत्यके अनुयायीको कहा कठिनता हुई है ?

जिन खोजो तिन पाइया, गहरे पानी पैठ,
हो बोरी ढूंढन गई, रही किनारे बैठ।

"असल बात तो यह है कि जब हम धर्मकी नही, पापकी ही रक्षा करना चाहते है, और चूकि अहिंसासे पापकी रक्षा नही होसकती, तब अहिसाके गुण-प्रभावमे हमे शका होती है और अनेक तर्क-वितर्क उपस्थित होते है।"

इसी तरह जितने प्रश्न बिडलाजीने उठाये है उन सबकी चर्चा सूक्ष्म अवलोकन और चितन से भरी हुई है। उनके धर्म-चितन और धर्मग्रथोके अध्ययन का तो मुझे तनिक भी खयाल नही था। इस पुस्तकसे उसका पर्याप्त परिचय मिलता है। गीता के कुछ श्लोक जो कही-कहीं उन्होने उद्धृत किये है, उनका रहस्य खोलनेमें उन्होने कितनी मौलिकता दिखाई है !

बिडलाजीकी किफायती और चुभ जानेवाली शैलीके तो हमको स्थान-स्थानपर प्रमाण मिलते है "असलमें तो शुद्ध मनुष्य स्वय ही शस्त्र है और स्वय ही उसका चालक है।" "गदे कपडेकी गदगीकी यदि हम रक्षा करना चाहते है तो पानी और साबुनका क्या काम ? वहा तो कीचडकी जरूरत है।" "आकाशवाणी अन्य चीजोकी तरह पात्र ही सुन सकता है। सूर्यका प्रतिबिब शीशे

पर ही पडेगा, पत्थरपर नहीं।" "सरकारने हमें शांति दी, रक्षा दी, परतंत्रता दी, नुमाइंदे भी भी वही नियुक्त क्यों न करे?" "सूरजसे पूछो कि आप सर्दी में दक्षिणायन और गर्मी में उत्तरायण क्यों होजाते हैं, तो कोई यथार्थ उत्तर मिलेगा? सर्दी-गर्मी दक्षिणायन-उत्तरायण के कारण होती है, न कि दक्षिणायन-उत्तरायण सर्दी-गर्मी के कारण। गांधीजी की दलीलें भी वैसी ही हैं। वे निर्णय के कारण बनती हैं, न कि निर्णय उनके कारण बनता है।"

आखिरी तुलना कितनी मनोहर, कितनी मौलिक और कितनी अर्थपूर्ण है! गांधीजीके जीवनके कई कार्यों पर इस दृष्टि से कितना प्रकाश पडता है।

गांधीजीकी आत्मकथा तो हम सब पढ चुके हैं, परन्तु उसके कुछ भागोंपर श्री घनश्यामदासजीने जैसा भाष्य किया है वैसा हममेंसे शायद ही कोई करते हों। गांधीजीको मारने के लिए दक्षिण अफ्रीकामें गोरे लोगोंकी भीड टूट पडती है। मुश्किल से गांधीजी उससे बचते हैं। बिडलाजीको उस दृश्य का विचार करते ही दिल्लीके लक्ष्मीनारायण-मंदिरके उद्घाटनके समय की भीड़ याद आजाती है और दोनों दृश्योंका सुंदर समन्वय करके अपनी बातका समर्थन करते हैं।

गांधीजीके उपवास, उनकी ईश्वर-श्रद्धा, उनके सत्याग्रह आदि कई प्रश्नोंपर, उनके जीवनके अनेक प्रसंग लेकर उसकी गहरी छानबीन करके, उन्होंने बड़ा सुंदर प्रकाश डाला है।

उनकी समझ, उनकी दृष्टि इतनी सच्ची है कि कहीं-कहीं उनका स्पष्टीकरण गांधीजीके स्पष्टीकरणकी याद दिलाता है। यह पुस्तक तो लिखी गई थी कोई तीन महीने पहले, लेकिन उस समय उन्होंने अहिंसक सेनापति और अहिंसक सेनाके बारे में जो-कुछ लिखा था वह मानो वैसा ही है जैसा अभी कुछ दिन पहले

गाधीजीने 'हरिजन'में लिखा था।

"यह आशा नही की जाती कि समाजका हर मनुष्य पूर्ण अहिंसक होगा। पर जहा हिंसक फौजके बल पर शांति और साम्राज्यकी नीव डाली जाती है, वहा भी यह आशा नही की जाती कि हर मनुष्य युद्ध-कलामें निपुण होगा। करोड़ो की बस्तीवाले मुल्ककी रक्षा के लिए कुछ थोड़े लाख मनुष्य काफी समझे जाते है। सौमे एक मनुष्य यदि सिपाही हो तो पर्याप्त माना जाता है। फिर उन सिपाहियोमे से भी जो ऊपरी गणनायक होते है, उन्हीकी निपुणता पर सारा व्यवहार चलता है।

"आज इंग्लिस्तानमें कितने निपुण गणनायक होंगे, जो फौज के सचालनमें अत्यन्त दक्ष पाये जाते है? शायद दस-बीस। पर बाकी जो लाखो की फौज है, उसमे तो इतनी ही आशा की जाती है कि उसमे अपने अफसरोकी आज्ञा पर मरनेकी शक्ति हो। इसी उदाहरणके आधार पर हम एक अहिंसक फौजकी भी कल्पना कर सकते है। अहिंसात्मक फौज के जो गणनायक हो उनमें पूर्ण आत्मशुद्धि हो, जो अनुयायी हो वे श्रद्धालु हो, और चाहे उनमे इतना तीक्ष्ण विवेक न हो पर उनमें सत्य-अहिंसाके लिए मरनेकी शक्ति हो। इतना यदि है तो काफी है।"

सारी पुस्तक बिडलाजीकी तलस्पर्शी परीक्षण-शक्तिका सुदर नमूना है। केवल एक स्थानपर मुझे ऐसा लगा कि वह जितनी दूर जाना चाहिए उतनी दूर नही गये। अहिंसा की समीक्षा करते हुए उन्होने एक अबाध सत्य प्रतिपादित किया है—अनासक्त होकर, अरागद्वेष होकर, जनहितके लिए की गई हिंसा अहिंसा है। यह अबाध सत्य तो गीतामें है ही। पर उसपरसे बिडलाजीने जो अनुमान निकाला है, उसे शायद ही गाधीजी स्वीकारेंगे। बिडलाजी कहते है—"गाधीजी स्वय जीवन-मुक्त दशामें, चाहे वह दशा

क्षणिक–जब निर्णय किया जारहा हो उस घडी के लिए–ही क्यो न हो, अहिंसात्मक हिंसा भी कर सकें, जैसे कि बछडेकी हिंसा, पर साधारण मनुष्यके लिए तो वह कर्म कौए के लिए हंसकी नकल होगी।"इसपर मैं दो बातें कहना चाहता हू । बछडेकी हिंसा जीवन-मुक्त दशा में की गई हिंसाका उदाहरण है ही नही। थोडे दिन पहले सेवाग्राम में एक पागल सियार आगाया था। उसे मारने की गाधीजीने आज्ञा देदी थी, और वे मारनेवाले कोई अनासक्त जीवन-मुक्त नही थे। वह आवश्यक और अनिवार्य हिंसा थी, जितनी कि कृषि-कार्य मे कीटादि की हिंसा आवश्यक और अनिवार्य होजाती है । हिंसाके भी कई प्रकार हैं । बछडेकी हिंसा का दूसरा प्रकार है। घुडदौडमें जिस घोडेका पैर टूट जाता है या ऐसी चोट लगती है कि जिसका इलाज ही नहीं है, और पशुके लिए जीना एक यत्रणा होजाता है, उसे अंग्रेज लोग मार डालते हैं । वे प्रेमसे, अद्वेषसे मारते हैं, पर वे मारनेवाले कोई अनासक्त या जीवन-मुक्त नही होते । जिस हिंसाको गीता ने विहित कहा है, वह हिंसा अलौकिक पुरुष ही कर सकता है––राम, कृष्ण कर सकते है। परन्तु राम और कृष्ण, गाधीजीके अभिप्राय में, वहा ईश्वरवाचक हैं । गाधीजी अपनेको जीवन-मुक्त नही मानते और न वह और किसीको भी सपूर्ण जीवन-मुक्त माननेके लिए तैयार हैं। सपूर्ण जीवन-मुक्त ईश्वर ही हैं और यह गाधीजी की दृढ मान्यता है कि "हत्वाऽपि स इमाल्लोकान्न हन्ति निबध्यते" वचन भी ईश्वर के लिए ही है । इसलिए वह कहते हैं––मनुष्य चाहे जितना बडा क्यो न हो, चाहे जितना शुद्ध क्यों न हो, ईश्वरका पद नही ले सकता और न व्यापक जनहित के लिए भी उसे हिंसा करनेका अधिकार है। इस निर्णयमें से सत्याग्रह और उपवासकी उत्पत्ति हुई ।

इस एक स्थानको छोड़कर बाकी पुस्तकमें मुझे कहीं कुछ भी नहीं खटका, बल्कि सारा विवेचन इतना तलस्पर्शी और सारा दर्शन इतना दोष-मुक्त मालूम हुआ है कि मैं पुस्तक को प्रूफके रूप में ही दो बार पढ गया, तथा और भी कई बार पढू तो भी मुझे थकान नहीं आयेगी। मुझे आशा है कि और पाठकोकी भी यही दशा होगी और, जैसा कि मुझे मालूम हुआ है, औरोको भी इस पुस्तक का पठन शातिप्रद और चेतनाप्रद मालूम होगा।

सेवाग्राम,
८-९-४०

महादेव देसाई

प्रकाशकीय

'बापू' का यह तीसरा सस्करण आपके सामने है। इस सस्करण मे महात्माजी का एक पत्र ब्लाक बनाकर छाप दिया गया है, जो उन्होने लेखक को इस पुस्तक के बारे मे लिखा था। उस पत्र की प्रतिलिपि इस प्रकार है—

सेवाग्राम, २२-७-४१

भाई घनश्यामदास,

'बापू' अभी पूरी की। दो तीन जगह हकीकत दोष है। अभिप्राय को हानि नही पहुँचती है। निशानी की है।

बछड़ा के बारे मे जो दलील की है वह कर सकते हैं लेकिन उसमे कुछ मौलिक दोष पाता हूँ। जो रावणादि के वध के साथ यह वध किसी प्रकार मिलता नहीं है, बछड़े के वध मे मेरा कुछ स्वार्थ नही था। केवल दु:ख मुक्त करना ही कारण था। रावणादि के वध मे जो लौकिक स्वार्थ था, पृथ्वी पर भार था उसे हलका करना था। उसका संहारक साक्षात रामरूपी ईश्वर था। यहा तो सहारक कोई काल्पनिक अवतार न था। मेरा तो कथन यह है कि मेरी हालत मे सब कोई ऐसा कर सकते है। अंबालाल ने ४० कुत्तों को मेरी प्रेरणा या प्रोत्साहन से मारे इसमे लौकिक कल्याण था सही। लेकिन इसमे और रावणादि के वध मे बड़ा अंतर है। और मैंने तो इन चीजो का अलग अर्थ किया है। उसकी चर्चा वहा आवश्यक थी। ज्यादा और कोई समय आवश्यक समझा जाय तो।

भाषा मधुर है। कोई जगह दलील की पुनरुक्ति होगई है। यह काम प्रुफ सुधार मे हो सकता था। उससे भाषा के प्रवाह मे कुछ क्षति नही आती। शायद दूसरे तो इस पुनरुक्ति को देख भी नही सके होगे।

अब तो तबीयत अच्छी होगी। बापू के आशीर्वाद

बापू

बापू

१

गांधीजी का जन्म अक्तूबर सन् १८६९ ईस्वी में हुआ। इस हिसाब से वह इकहत्तर वर्ष समाप्त कर चुके। अनन्त-काल के अपरिमित गर्भ में क्या इकहत्तर और क्या इकहत्तर सौ! अथाह सागर के जल में विद्यमान एक बूंद की गणना भले ही हो सके, पर अनन्तकाल के उदर में बसे हुए इकहत्तर साल की क्या बिसात? फिर भी यह सही है कि भारत के इस युग के इतिहास में इन इकहत्तर वर्षों का इतना महत्त्व है जितना और किसीका शायद ही हो।

भारतवर्ष में इस समय एक नई तरह की मानसिक हलचल का दौरदौरा है, एक नई तरह की जागृति है, एक नये अनुभव में से हम पार हो रहे हैं। धार्मिक विप्लव यहां अनेक हुए हैं, पर राज-नीति का जामा पहनकर धर्म किस तरह अपनी सत्ता जमाना चाहता है यह इस देश के लिए एक नया ही अनुभव है। इसका अन्त क्या होगा यह तो भविष्य ही बताएगा।

पर जबकि सारा संसार अस्त्र-शस्त्रों के मारक गर्जन से त्रस्त है और विज्ञान नित्य ऐसे नये-नये ध्वंसक आविष्कार करने में व्यस्त है, जो छिन में एक पल पहले की हरी-भरी फुलवाड़ी को फूंककर स्मशान बना दे, जबकि स्वदेश और स्वदेश-भक्ति के नाम पर खून की नदियां बहाना गौरव की बात समझी जाती हो, जबकि सत्या-

नाशी कार्यों द्वारा मानव-धर्म की सिंहासन-स्थापना का सुख-स्वप्न देखा जाता हो, ऐसे अन्धकार में गांधीजी का प्रवेश आशा की एक शीतल किरण की तरह है जो, यदि भगवान चाहे तो, एक प्रचण्ड जीवक तेज में परिणत होकर संसार में फिर शांति स्थापित कर सकती है।

पर शायद मैं आशा के बहाव में बहा जारहा हूं। तो भी इतना तो शुद्ध सत्य है ही कि गांधीजी के आविर्भाव ने इस देश में एक आशा, एक उत्साह, एक उमंग और जीवन में एक नया ढंग पैदा कर दिया है, जो हजारों साल के प्रमाद के बाद एक बिलकुल नई चीज है।

किसी एक महापुरुष की दूसरे से तुलना करना एक कष्टसाध्य प्रयास है। फिर गांधी हर युग में पैदा भी कहां होते हैं? हमारे पास प्राचीन इतिहास—जिसे दरअसल तवारीख कहा जासके—भी तो नहीं है कि हम गणना करें कि कितने हजार वर्षों में कै गांधी पैदा हुए। राम-कृष्ण चाहे देहधारी जीव रहे हों, पर कवि ने मनुष्य-जीवन की परिधि से बाहर निकालकर उन्हें एक अलौकिक रूप दे दिया है। कवि तो कवि ही ठहरा, इसलिए उसका दिया हुआ अलौकिक स्वरूप भी अपूर्ण है। ऐसे स्वरूप के विवरण के लिए तो कवि अलौकिक, लेखनी अलौकिक और भाषा भी अलौकिक ही चाहिए। पर तो भी कवि की इस कृति के कारण राम-कृष्ण को मानवी मापदण्ड से मापना दुष्कर होगया है।

इसके विपरीत, कवि पुष्कल प्रयत्न करने पर भी बुद्ध की ऐतिहासिकता और उसका मानवी जीवन न मिटा सका। इसलिए संसार के ऐतिहासिक महापुरुषों में बुद्ध ने एक अत्यन्त ऊंचा स्थान पाया। पर कलियुग में एक ही बुद्ध हुआ है और एक ही गांधी। बुद्ध ने अपने जीवन-काल में एक दीपक जलाया, जिसने उनकी

मृत्यु के बाद अपने प्रचण्ड तेज से एशियाभर में प्रकाश फैला दिया। गांधीजी ने अपने जीवनकाल में उससे कहीं अधिक प्रखर अग्नि-शिखा प्रदीप्त की, जो शायद समय पाकर संसारभर को प्रज्वलित कर दे।

अपने जीवनकाल में गांधीजी ने जितना यश कमाया, जितनी ख्याति प्राप्त की और वह जितने लोकवल्लभ हुए उतना शायद ही कोई ऐतिहासिक पुरुष हुआ हो। ऐसे पुरुष के विषय में कोई कहाँ-तक लिखे? इकहत्तर साल की क्रमबद्ध जीवनी शायद ही कभी सफलता के साथ लिखी जा सके। और फिर गांधीजी को पूरा जानता भी कौन है?

'सम्यग् जानाति वै कृष्ण किंचित् पार्थो धनुर्धर.'

जैसे गीता के बारे में यह कहा गया है वैसे गांधीजी के बारे में यह कहा जा सकता है कि उन्हें भली प्रकार तो खुद वही जानते थे बाकी कुछ-कुछ महादेव देसाई भी।

२

मैने गाधीजी को पहले-पहल देखा तब या तो उन्नीस सौ चौदह का अन्त था या पन्द्रह का प्रारम्भ । जाडे का मौसिम था । लन्दन से गाधीजी स्वदेश लौट आये थे और कलकत्ते आने की उनकी तैयारी थी । जब यह खबर सुनी कि कर्मवीर गाधी कलकत्ते आ-रहे है, तो सार्वजनिक कार्यकर्त्ताओ के दिल मे एक तरह का चाव-सा उमड पडा । उन दिनो का सार्वजनिक जीवन कुछ दूसरा ही था । अखबारो मे लेख लिखना, व्याख्यान देना, नेताओ का स्वागत करना और स्वय भी स्वागत की लालसा का व्यूह रचना, सार्वजनिक जीवन करीब-करीब यहीतक सीमित था ।

मैने उन दिनो जवानी मे पाव रक्खा ही था, बीसी बस खतम हुई ही थी । पाच सवारो मे अपना नाम लिखाने की चाह लिये मै भी फिरता था । मेलो मे वालंटियर बनकर भीड मे लोगो की रक्षा करना, बाढ-पीडित या अकाल-पीडित लोगो की सेवा के लिए सहायक-केन्द्र खोलना, चन्दा मागना और देना, नेताओ का स्वागत करना, उनके व्याख्यानो मे उपस्थित होना, यह उन दिनो के सार्वजनिक जीवन मे रस लेनेवाले नौजवानो के कर्त्तव्य की चौहद्दी थी । उनकी शिक्षा-दीक्षा इसी चौहद्दी के भीतर शुरू होती थी । मेरी भी यही चौहद्दी थी, जिसके भीतर रस और

उत्साह के साथ मैं चक्कर काटा करता था।

नेतागण इस चौहद्दी के बाहर थे। उनके लिए कोई नियम, नियन्त्रण या विधान नहीं था। जोशीले व्याख्यान देना, चन्दा मागना, यह उनका काम था। स्वागत पाना, यह उनका अधिकार था। इसके माने यह नही कि नेता लोग अकर्मण्य थे या कर्तव्य में उनका मोह था। बात यह थी कि उनके पास इसके सिवा कोई कार्यक्रम ही नही था, न कोई कल्पना थी। जनता भी उनसे इससे अधिक की आशा नहीं रखती थी। नेता थे भी थोडे-से, इसलिए उनका बाजार गरम था। अनुयायी भक्ति-भाव से पूजन-अर्चन करते, जिसे नेता लोग बिना सकोच के ग्रहण करते थे।

उस समय के लीडरो की नुकताचीनी करते हुए अकबर साहब ने लिखा था --

कौम के गम में डिनर खाते हैं हुक्काम के साथ,
रंज लीडर को बहुत है, मगर आराम के साथ।

अवश्य ही अकबर साहब ने घोडे और गदहे को एक ही चाबुक से हाकने की कोशिश की, मगर इसमें सरासर अत्युक्ति थी ऐसा भी नहीं कहना चाहिए। यदि कुछ लीडरो के साथ उन्होंने अन्याय किया तो बहुतो के बारे में उन्होंने यथार्थ बात भी कह दी।

गाधीवाद के आविर्भाव के बाद तो मापदड कुछ न्यारा ही बन गया। नेताओ को लोग दूरबीन और खुर्दबीन से देखने लग गये। एक ओर चरित्र की पूछताछ बढ गई तो दूसरी ओर उसके साथ-साथ पाखण्ड भी बढा। स्वार्थ में वृद्धि हुई, पर त्याग भी बढा। शान्त सरोवर में गाधीवाद की मथनी ने पानी को बिलो डाला। उसम से अमृत भी निकला और विष भी। उसमे से देवासुर-सग्राम भी निकला। गाधीजी ने न मालूम कितने बार विष की कडवी घूटे पी और शिव की तरह नीलकठ बने। सग्राम तो अभी

जागी ही है और सुरों की विजय अन्त में अवश्यम्भावी है यह आशा लिये लोग बैठे है। पर जिस समय की मैं बातें कर रहा हू, उस समय यह सब कुछ न था। सरोवर का पानी शात था। ऊषा की लालिमा शानभाव से गगन मे विद्यमान थी, पर सूर्योदय अभी नही हुआ था। पुनर्जन्म की तैयारी थी, पर या तो नये जन्म से पहले की मृत्यु का सन्नाटा था, या प्रसव-वेदना के बाद की सुषुप्ति-जनित शाति। न नेताओ को पाखण्ड मे आत्मग्लानि थी, न अनुयायी ही इस चीज को वैसी बुरी नजर से देखते थे।

ऐसे समय मे गाधीजी अफ्रीका से लन्दन होते हुए स्वदेश लौटे और सारे हिन्दुस्तान का दौरा किया। कलकत्ते मे भी उसी सिल-सिले मे उनके आगमन की तैयारी थी।

मुझे याद आता है कि गाधीजी के प्रथम दर्शन ने मुझमे काफी कुतूहल पैदा किया। एक सादा सफेद अगरखा, धोती, सिर पर काठियावाडी फेटा, नगे पाव, यह उनकी वेशभूषा थी। हम लोगो ने बडी तैयारी से उनका स्वागत किया। उनकी गाडी को हाथ से खीचकर उनका जुलूस निकाला। पर स्वागतो मे भी उनका ढग निराला ही था। मै उनकी गाडी के पीछे साईस की जगह खडा होकर 'कर्मवीर गाधी की जय!' गला फाड-फाडकर चिल्ला रहा था। गाधीजी के साथी ने, जो उनकी बगल मे बैठा था, मुझसे कहा "**उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्य वरान्निबोधत** ऐसा पुकारो। गाधीजी इससे प्रसन्न होगे।" मैने भी अपना राग बदल दिया।

पर मालूम होता था, गाधीजी को इन सब चीजो मे कोई रस न था। उनके व्याख्यान मे भी एक तरह की नीरसता थी। न जोश था, न कोई अस्वाभाविकता थी, न उपदेश देने की व्यास-वृत्ति थी। आवाज मे न चढाव था, न उतार। बस एक तार था,

एक नर्ज था। पर इस नीरसता के नीचे दबी हुई एक चमक थी जो श्रोताओ पर छाप डाल रही थी।

मुझे याद आता है कि कलकत्ते मे उन्होने जितने व्याख्यान दिये--शायद कुल पाच व्याख्यान दिये होगे-- वे प्राय सभी हिन्दी भाषा मे दिये। सभी व्याख्यानो मे उन्होने गोखले की जी-भरकर प्रशसा की। उन्हे अपना राजनैतिक गुरु बताया और यह भी कहा कि श्री गोखले की आज्ञा है कि मै एक साल देश मे भ्रमण करू अनुभव प्राप्त करू। इसलिए जबतक मुझे सम्यक् अनुभव नही होजाता, तबतक मै किसी विषय पर अपनी पक्की राय कायम करना नही चाहता। नौजवानो को गोखले का ढग नापसन्द था, क्योकि वह होश की, न कि जोश की बाते किया करते थे, जो उस समय के नौजवानो की शिक्षा-दीक्षा से कम मेल खाती थी। लोकमान्य लोगो के आराध्यदेव और गोखले उपहास्यदेव थे। इसलिए हम सभी नौजवानो को गाधीजी का बार-बार गोखले को अपना राजनैतिक गुरु बताना खटका।

पर तो भी गाधीजी के उठने-बैठने का ढग, उनका सादा भोजन, सादा रहन-सहन, विनम्रता, कम बोलना इन सब चीजो ने हम लोगो को एक मोहिनी मे डाल दिया। नये नेता की हम लोग कुछ थाह न लगा सके।

मैने उन दिनो गाधीजी से पूछा कि क्या किसी सार्वजनिक मसले पर आपसे खतोकिताबत होसकती है ? उन्होने कहा, 'हा।' मुझे यह विश्वास नही हुआ कि किसी पत्र का उत्तर एक नेता इतनी जल्दी देसकता है। वह भी मेरे-जैसे एक अनजान साधारण नौजवान को। पर इसकी परीक्षा मैने थोडे ही दिनो बाद करली। उत्तर मे तुरन्त एक पोस्टकार्ड आया, जिसमे पैसे की किफायत तो थी ही, भाषा की भी काफी किफायत थी।

पता नही कितने नौजवानो पर गाधीजी ने इस तरह छाप डाली होगी, कितनो को उलझन मे डाला होगा, कितनो के लिए वह कुतूहल की सामग्री बने होगे ! पर १९१५ मे जिस तरह वह लोगो के लिए पहेली थे, वैसे ही आज भी है ।

३

१९३२ के सत्याग्रह की समाप्ति के बाद लार्ड विलिंग्डन पर एक मर्तबा, शायद १९३४ की बात है, मैंने जोर डाला कि आप इस तरह गांधीजी से दूर न भागे उनसे मिले, उनको समझने की कोशिश करें, इसीमें भारत और इंग्लिस्तान दोनो का कल्याण है। पर वाइसराय पर इसका कोई असर न हुआ। उन्हे भय था कि गांधीजी उन्हे कहीं फास न ले। वह मानते थे कि गांधीजी का विश्वास नहीं किया जासकता। मुझे मालूम है कि भारत-मन्त्री ने भी वाइसराय पर गांधीजी से मेल-जोल करने के लिए जोर डाला था, पर सारी क्रिया निष्फल गई। जिस मेल-मिलाप का अमल-दरामद अरविन के जाने के बाद टूटा, वह लिनलिथगो के आनेतक न सध सका।

जिन गांधीजी पर मेरी समझ मे निर्भय होकर विश्वास किया जासकता है, उनके प्रति वाइसराय विलिंग्डन का विश्वास न था। वाइसराय ने कहा, "वह इतने चतुर हैं, बोलने में इतने मीठे हैं, उनके शब्द इतने द्विअर्थी होते हैं कि जबतक मैं उनके वाक्पाश मे पूरा फस न चुकूगा, तबतक मुझे पता भी न लगेगा कि मै फस गया हू। इसलिए मेरे लिए निर्भय मार्ग तो यही है कि मैं उनसे न मिलू, उनसे दूर ही रहू।" मेरे लिए यह अचम्भे की बात थी कि गांधीजी के बारे

मे किसीके ऐसे विचार भी होसकते है। पर पीछे मालूम हुआ कि ऐसी श्रेणी मे वाइसराय अकेले ही न थे, और भी कई लोगो को ऐसी शका रही है।

अमरीका के एक प्रतिष्ठित ग्रथकार श्री गुथर ने गाधीजी के बारे मे लिखा है

"महात्मा गाधी मे ईसामसीह, चाणक्य और बापू का अद्भुत सम्मिश्रण है। बुद्ध के बाद वह सबसे महान व्यक्ति है। उनसे अधिक पेचदार पुरुष की कल्पना भी नही की जासकती। वह एक ऐसे व्यक्ति है, जो किसी तरह पकड मे नही आसकते। यह मै कुछ अनादर-भाव से नही कह रहा हू। एक ही साथ महात्मा राजनीतिज्ञ, अवतार और प्रतापी अवसरवादी होना यह मानवी नियमो का अपवाद या अवज्ञा है। जरा उनकी असगतियो का तो खयाल कीजिए। एक तरफ तो गाधीजी का अहिसा और असहयोग मे दृढ विश्वास, और दूसरी ओर इग्लिस्तान को युद्ध मे सहायता देना! उन्होने नैतिक दृष्टि से कैदखाने मे उपवास किये, पर वे उपवास ही उनकी जेलमुक्ति के साधन भी बने, यद्यपि उनको इस परिणाम से कोई गरज नही थी। जबतक आप यह न समझले कि वह सिद्धान्त से कभी नही हटते, चाहे छोटी-मोटी विगतो पर कुछ इधर-उधर होजाये, तबतक उनकी असगतिया बेतरह अखरती है। इग्लिस्तान से असहयोग करते हुए भी आज गाधीजी से बढकर इग्लिस्तान का कोई मित्र नही। आधुनिक विज्ञान से उन्हे सूग-सी है पर वह थर्मामीटर का उपयोग करते है और चश्मा लगाते है। हिन्दू-मुस्लिम-ऐक्य चाहते है, पर उनका लडका थोडे दिनो के लिए धर्म-परिवर्तन करके मुसलमान बन गया था इससे उन्हे चोट लगी। काग्रेस के वह प्राण है, उसके मेरुदण्ड है, उसकी आखे है, उसके पाव है, पर काग्रेस के वह चार आनेवाले मेम्बर भी नही। हर चीज

को वह धार्मिक दृष्टि से देखते है, पर उनका धर्म क्या है, इसका विवरण कठिन है। इससे ज्यादा और गोरखधधा क्या होसकता है? फिर भी सत्य यही है कि गाधीजी एक महान व्यक्ति है, जिनका जीवन शुद्ध शौर्य की प्रतिमा है।'

इसमे कोई शक नही कि गाधीजी परस्पर-विरुद्ध-धर्मी गुणो के एक खासे सम्मिश्रण है। वह **वज्रादपि कठोराणि मृदूनि कुसुमादपि** है। अत्यन्त सरल, फिर भी अत्यन्त दृढ, अतिशय कजूस, पर अतिशय उदार है। उनके विश्वास की कोई सीमा नही, पर मैने उन्हे बेमौके अविश्वास भी करते पाया है। गाधीजी एक कुरूप व्यक्ति है जिनके शरीर, आखो और हरेक अवयव से दैवी सौन्दर्य और तेज की आभा टपकती है। उनकी खिलखिलाहट ने न मालूम कितने लोगो को मोहित कर दिया। उनके बोलने का तरीका बोदा होता है, पर उसमे कोई मोहिनी होती है जिसे पी-पीकर हजारो प्रमत्त होगये।

गाधीजी को शब्दाकित करना दुष्कर प्रयास है। कोई पूछे कि कौन-सी चीज है जिसने गाधीजी को महात्मा बनाया, तो उसका विस्तारपूर्वक वर्णन करने पर भी शायद सफलता न मिले। बात यह है कि गाधीजी जैसा कि मै पहले कह चुका हू, इतने परस्पर-विरुद्ध और समान सम्मिश्रणो के पुतले है कि पूरा विश्लेषण करना एक कठिन प्रयत्न है। इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि ये सब चीजे है, जिनकी सारी शक्ति ने गाधीजी को बडा बनाया। गाधीजी को आदमी उनसे सम्बन्धित साहित्य को पढकर तो जान ही नही सकता, पास मे रहकर भी सम्यक् नही जान सकता।

गाधीजी का जीवन एक बृहत् दैवी जुलूस है, जिसने उनके होश सम्हालते ही गति पाई, जो अब भी द्रुतगति से चलता ही जारहा है और मृत्यु तक लगातार चलता ही रहेगा। इस जुलूस मे न मालूम

कितने दृश्य है, न मालूम कितने अग है। पर इन सब दृश्यो का, इन सब अगो का एक ही ध्येय है और एक ही दिशा मे वह जुलूस लगन के साथ चला जारहा है। हर पल उस जुलूस को अपने ध्येय का ज्ञान है, हर पल उग्र प्रयत्न जारी है और हर पल वह अपने ध्येय के निकट पहुच रहा है।

किसीने गाधीजी को केवल 'बापू' के रूप मे ही देखा है, किसीने महात्मा के रूप मे, किसीने एक राजनैतिक नेता के रूप मे और किसीने एक बागी के रूप मे।

गाधीजी ने सत्य की साधना की है। अहिसा का आचरण किया है। ब्रह्मचर्य का पालन किया है। भगवान की भक्ति की है। हरिजनो का हित साधा है। दरिद्रनारायण की पूजा की है। स्वराज्य के लिए युद्ध किया है। खादी-आन्दोलन को अपनाया है। हिन्दू-मुस्लिम-ऐक्य के लिए अथक और अकथ प्रयत्न किया है। प्राकृतिक चिकित्सा के प्रयोग किये है। गोवश के उद्धार की योजना की है। भोजन के सम्बन्ध मे स्वास्थ्य और अध्यात्म की दृष्टि से अन्वेषण किये है। ये सब चीजे गाधीजी का अग बन गई है। इन सारी चीजो का एकीकरण जिसमे समाप्त होता है वह गाधी है।

"मेरा जीवन क्या है—यह तो सत्य की एक प्रयोगशाला है। मेरे सारे जीवन मे केवल एक ही प्रयत्न रहा है—वह है मोक्ष की प्राप्ति, ईश्वर का साक्षात दर्शन। मै चाहे सोता हू या जागता हू, उठता हू या बैठता हू, खाता हू या पीता हू मेरे सामने एक ही ध्येय है। उसीको लेकर मै जिन्दा हू। मेरे व्याख्यान या लेख और मेरी सारी राजनैतिक हलचल सभी उसी ध्येय को लक्ष्य मे रखकर गति-विधि पाते है। मेरा यह दावा नही है कि मै भूल नही करता। मै यह नही कहता कि मैने जो किया वही निर्दोष है। पर मै एक दावा अवश्य करता हू, कि मैने जिस समय जो ठीक माना उस समय

वही किया। जिस समय जो 'धर्म' लगा, उससे मै कभी विचलित नही हुआ। मेरा पूर्ण विश्वास है कि सेवा ही धर्म है और सेवा मे ही ईश्वर का साक्षात्कार है।"

गाधीजी का जीवन क्या है, इसपर उनकी उपर्युक्त उक्ति काफी प्रकाश डालती है। ये बडे बोल है जो एक प्रकाश-पुज से प्लावित व्यक्ति ही अपने मुह से निकाल सकता है, पर—

न त्वहं कामये राज्य न स्वर्गं नापुनर्भवम्।
कामये दुःखतप्तानां प्राणिनामार्तिनाशनम्॥

ये क्या कम बडे बोल थे?

४

मैंने एक बार कौतुकवश गाधीजी से प्रश्न किया कि आप अपने कौन-से कार्य के सम्बन्ध में यह कह सकते हैं कि 'बस, यह मेरा काम मेरे सारे कामो का शिखर है ?'

गाधीजी इसका उत्तर तुरन्त नही दे सके। उन्हे एक पल--बस एक ही पल--ठहरना पडा, क्योकि वह सहसा कोई उत्तर नही दे सकते थे। समुद्र से पूछो कि कौन-सा ऐसा विशेष जल है जिसने आपको सागर बनाया, तो समुद्र क्या उत्तर देगा ? गाधीजी ने कहा, "सबसे बडा काम कहो तो खादी और हरिजन-कार्य।" मुझे यह उत्तर कुछ पसन्द नही आया, इसलिए मैंने अपना सुझाव पेश किया। "और अहिसा ? क्या आपकी सबसे बडी देन अहिसा नही है ?" "हा, है तो, पर यह तो मेरे हर काम मे ओतप्रोत है। पर यदि समष्टि अहिसा से व्यष्टि कार्य का भेद करो, तो कहूगा--खादी और हरिजन-कार्य, ये मेरे श्रेष्ठतम कार्य है। अहिसा तो मानो मेरी माला के मनको मे धागा है, जो मेरे सारे कामो मे ओतप्रोत है।"

हरिजन-कार्य अत्यन्त महान हुआ है, इसमे कोई शक नही। इनको यह चटक कब लगी, यह कोई नही बता सकता। पर जब यह बारह साल के थे, तभी इस विषय मे इनका हृदय-मथन शुरू होगया था। इनके मेहतर का नाम ऊका था। वह पाखाना साफ

लेखक : गाधीजी के साथ अपनी ४६वीं वर्षगाठ पर : श्रीरामनवमी : संवत् १९९६

करने आया करता था। इनकी मा ने इनसे कहा "इसे मत छूना।" पर गाधीजी को इस अछूतपन मे कोई सार नही लगा। अछूतपन अधर्म है, ऐसा इनका विश्वास बढने लगा था। उस समय के इनके बचपन के खयालात से ही पता लग जाता है कि इन्हे अछूतपन हिंदू-धर्म मे एक असह्य कलक लगता था। जब इन्हे हिन्दू-धर्म मे पूर्ण श्रद्धा नही थी, तब भी अछूतपन के कारण इन्हे काफी वेदना होती थी। यही सस्कार थे कि जिनके कारण आज से चालीस वर्ष पहले जब राजकोट मे प्लेग चला और इन्होने जन-सेवा का कार्यभार अपने ऊपर लिया तब अछूत-बस्ती का तुरन्त निरीक्षण किया। उस जमाने म इनके साथियो के लिए इनका यह कार्य अनोखा था, पर हरिजन-सेवा के बीज उस समय तक अकुरित हो चुके थे, जो फिर समय पाकर पनपते ही गये। और उस सेवा-वृक्ष की प्रचण्डता तो हरिजन-उपवास के समय ही प्रत्यक्ष हुई। हरिजन-उपवास तो क्या था, हिन्दू-समाज को छिन्न-भिन्न होने से बचाने का एक जबरदस्त प्रयत्न था और उसम गाधीजी को पूर्ण सफलता मिली।

एक भीषण षड्यन्त्र था कि पाच करोड हरिजनो को हिन्दू-समाज से पृथक् कर दिया जाये। इस षड्यन्त्र म बडे-बडे लोग शरीक थ इसका पता कुछ ही लोगो को था। गाधीजी इससे परिचित थे। उन्होने द्वितीय गोलमेज-परिषद् मे ही अपने व्याख्यान मे कह दिया दिया था कि हरिजनो की रक्षा के लिए वह अपनी जान लडा देगे। इस मर्मस्पर्शी चुनौती का उस समय किसीने इतना गम्भीर अर्थ नही निकाला। पर गाधीजी ने तो अपना निर्णय उसी समय गढ डाला था। इसलिए प्रधानमन्त्री न जब अपना हरिजन-निर्णय प्रकट किया तब, गाधीजी ने हरिजन-रक्षा के लिए सचमुच ही अपनी जान लडा दी। इस प्रकार गाधीजी ने आमरण उपवास करके

हिन्दू-समाज और हरिजन दोनो को उबार लिया। अहिंसात्मक शस्त्र का यह प्रयोग बडी सफलता के साथ कारगर हुआ। इसमे उनकी कोई राजनैतिक चाल नही थी, हालाकि इसका राजनैतिक फल भी उनकी दृष्टि से ओझल नही था। पर उनका मशा तो केवल धार्मिक था।

"हरिजनो को हमने बहुत सताया है। हम अपने पापो का प्रायश्चित्त करके ही उनसे उऋण हो सकते है"—इस मनोवृत्ति मे धर्म और अर्थ दोनो आजाते है। पर धर्म मुख्य था, अर्थ गौण। इसका असर व्यापक हुआ। हिन्दू-समाज के टुकडे होते-होते बच गये। षड्यन्त्र बेकार हुआ। जिन्हे इस षड्यन्त्र का पता नही, उनके लिए हरिजन-कार्य की गुरुता का अनुमान लगाना मुश्किल है। खादी को भी गाधीजी ने वही स्थान दिया, जो हरिजन-कार्य को। इसको समझना आज जरा कठिन है पर शायद फिर कभी यह भी स्पष्ट होजाये।

"और अहिसा ?—क्या आपकी सबसे बडी देन अहिसा नही है ?" "हा है, पर यह तो मेरे काम मे ओतप्रोत है। अहिसा तो मानो मेरी माला के मनको मे धागा है।" यह प्रश्नोत्तर क्या है, गाधीजी की जीवनी का सूत्र-रूप मे वर्णन है। सत्य कहो या अहिसा, गाधीजी के लिए ये दोनो शब्द करीब-करीब पर्यायवाची है। इसी तरह सत्य और ईश्वर भी उनके पर्यायवाची शब्द है। पहले वह कहते थे कि ईश्वर सत्य है, अब कहते है कि सत्य ही ईश्वर है। अहिसा यदि सत्य है और सत्य अहिसा है, और ईश्वर यदि सत्य है और सत्य ईश्वर है, तो यह भी कहा जा सकता है कि ईश्वर अहिसा है और अहिसा ईश्वर है। चूकि सत्य, अहिसा और ईश्वर इन तीनो की सम्पूर्ण प्राप्ति शायद मानव-जीवन मे असम्भव है, इसलिए गाधीजी तीनो को एक ही सिहासन पर बिठाकर तीनो की

एक ही साथ पूजा करते है ।

परिणाम यह हुआ कि प्राणवायु जैसे शरीर की तमाम क्रियाओ को जीवन देती है, वैसे ही गाधीजी की अहिसा उनके सारे कामो का प्राण होगई है । कितने प्रवचन गाधीजी ने इस विषय पर किये होगे, कितने लेख लिखे होगे ! फिर भी कितने आदमी उनके तात्पर्य को समझे ? और कितनो न समझकर उसे हृदयगम किया ? कितनो ने उसे आचरण म लाने की कोशिश की ? और कितने सफल हुए ? और दूसरी ओर गाधीजी की अहिसा-नीति व्यग्य का भी कम शिकार न बनी । कुतर्को की कमी न रही । पर इन सबके बीच ऐसे प्रश्न भी उपस्थित होते ही है, जो सरल भाव से शकास्पद लोगो द्वारा केवल समाधान के लिए ही किये जाते है ।

"अहिसा तो सन्यासी का धर्म है । राजधर्म मे अहिसा का क्या काम ? हम अपनी धन-सम्पत्ति की रक्षा अहिसा द्वारा कैसे कर सकते है ? क्या कभी सारा समाज अहिसात्मक बन सकता है ? यदि नही तो फिर थोडे-से आदमियो के अहिसा धारण करने से उसकी उपयोगिता का महत्त्व क्या ? अहिसा का उपदेश क्या कायरता की वृद्धि नही करता ? और गाधीजी के बाद अहिसा की क्या प्रगति होगी ?"

ऐसे-ऐसे प्रश्न रोज किये जाते है । गाधीजी उत्तर भी देते है, पर प्रश्न जारी ही है । क्योकि यदि हम केवल जिज्ञासा ही करते रहे और आचरण का प्रयत्न भी न करे, तो फिर शका का समाधान भी क्या होसकता है ? गुड का स्वाद भी तो आखिर खाने से ही जाना जाता है ।

'हा, अहिसा तो सन्यासी का धर्म है । राजधर्म मे तो हिसा, छल-कपट सब विहित है । हम नि शस्त्र होकर आततायी का मुका-

बला करें तो वह हमें दबा लेगा, हमारी हार होगी और आततायी की जीत । **'आततायी वधार्हण'**, **'आततायिनमायान्तं हन्यादेवाविचारयन्'** ये शास्त्रों के वचन हैं ।

> **अग्निदो गरदश्चैव शस्त्रपाणिः धनापह ।**
> **क्षेत्रदारहरश्चैव षडेते आततायिन ॥**

ये सब कुकर्मी आततायी हैं । इन्हें मारना ही चाहिए । यदि हम आततायी को दण्ड न दें तो संसार में जुल्म की वृद्धि होगी, सन्त-जनों के कष्ट बढ़ेंगे, अधर्म की वृद्धि और धर्म का ह्रास होगा ।'

ऐसी दलीलें रोज सामने आती हैं । पर आश्चर्य तो यह है कि ऐसे तार्किक कोई राजा-महाराजा या राजधर्मी मनुष्य हों सो नहीं । जज का क्या धर्म है, इसकी चर्चा रास्ता चलनेवाले मनुष्य क्वचित् ही करते सुने जाते हैं । फिर भी रास्ते चलते आदमी अपनेको राजधर्म का अधिकारी क्यों मान लेते हैं ? यदि जज किसीको फांसी की सजा दे सकता है, तो क्या रास्ते चलनेवाले सभी आदमी फांसी की सजा देने के अधिकारी हो सकते हैं ? कोई तार्किक तर्क करने से पहले अपनेआप से ऐसा प्रश्न नहीं करता । और हमारा विपक्षी ही आततायी है, हम तो दण्ड देने के ही अधिकारी हैं, ऐसा भी हम सहज ही क्यों मान लेते हैं ? आततायी यदि हमीं हों तो फिर क्या ?

हिटलर कहता है चर्चिल आततायी है । चर्चिल कहता है, हिटलर आततायी है । परस्पर का यह आरोप पूरी सरगर्मी के साथ जारी है । अब दोनों ही अपने-आपको दण्ड देने का अधिकारी मानते हैं, ऐसी स्थिति में निर्णय तो तटस्थ पुरुष ही कर सकता है । पर तटस्थ पुरुष की बात दोनों के-दोनों यदि स्वीकार करें तो फिर दण्ड देने या लेने का सवाल ही नहीं रहता ।

बात तो यह है कि अक्सर हम अपनी हिंसा-वृत्ति का पोषण करने के लिए ही प्रमाण का सहारा ढूंढते हैं । **आततायिनमायान्तं**

हन्यादेवाविचारयन् का उपयोग अपने विपक्षी के लिए ही हम करते हैं। ऐसा तो कोई नही कहता कि मैं आततायी हू, इसलिए मेरा वध किया जाये। ऐसा कोई कहे तब तो तर्क मे जान आजाये। पर **'मो सम कौन कुटिल खल कामी'** --ऐसा तो सूरदास ने ही कहा। यदि हम विपक्षी के दुर्गुणों की अवगणना करके अपने दोषो का आत्म-निरीक्षण ज्यादा जागत होकर करे, तो ससार का सारा पाप छिप जाये।

धन-सम्पत्ति-सग्रह माल-जायदाद इत्यादि की रक्षा क्या अहिसा मे हो सकती है? हो भी सकती है और नही भी। जो लोग निजी उपयोग के लिए सग्रह लेकर बैठे है, सभव नही कि वे अहिसा-नीति के पात्र हो। अहिसा यदि कायरता का दूसरा नाम नही, तो फिर सच्ची अहिसा वह है जो अपने स्वार्थ के लिए सग्रह करना नही सिखाती। अहिसक को लोभ कहा? ऐसी हालत मे अहिसक को अपने लिए सग्रह करने की या रक्षा करने की आवश्यकता ही नही होती। योग-क्षेम के झगडे मे शायद ही अहिसा का पुजारी पडे। **'निर्योगक्षेम आत्मवान्'**-- गीता ने यह धर्म अर्जुन जैसे गृहस्थ व्यक्ति को बताया है। यह तो सन्यासी का धर्म है--ऐसा गीता ने नही कहा। गीता सन्यास नही, कर्म सिखाती है, जो गृहस्थ का धर्म है। अहिसावादी का भी शुद्ध धर्म उसे योग-क्षेम के झगडे से दूर रहना सिखाती है। पर सग्रह करना और उसकी रक्षा करना 'स्व' और 'पर' दोनो के लाभ के लिए होसकता है। जो 'स्व' के लिए सग्रह लेकर बैठे है, वे अहिसा-धर्म की पात्रता सम्पादन नही कर सकते। जो 'पर' के लिए सग्रह लेकर बैठे है, वे गाधीजी के शब्दो मे 'ट्रस्टी' है। वे अनासक्त होकर योग-क्षेम का अनुसरण कर सकते है। वे सग्रह रखते हुए भी अहिसावादी है, क्योकि उन्हे सग्रह मे कोई राग नही। धर्म के लिए जो सग्रह है वह धर्म

के लिए अनायास छोडा भी जा सकता है और उसकी रक्षा का प्रश्न हो तो वह तो धर्म से ही की जा सकती है, पाप से नही। इसके विपरीत जो लोग सग्रह मे आसक्त है वे न तो अहिसात्मक ही हो सकते है न फिर अहिसा से धन की रक्षा का प्रश्न ही उनके सम्बन्ध मे उपयुक्त है। पर यह सभव है कि ऐसे लोग हो जो पूर्णत अहिसात्मक हो, जो सब तरह से पात्र हो और अपनी आत्मशक्ति द्वारा, यदि उन्हे ऐसा करना धर्म लगे तो, किसीके सग्रह की भी रक्षा कर सके।

पर यह कभी न भूलना चाहिए कि अहिसक और हिसक मार्ग की कोई तुलना है ही नही। दोनो के लक्ष्य ही अलग-अलग है। जो काम हिसा से सफलतापूर्वक होसकता है—चाहे वह सफलता क्षणिक ही क्यो न हो—वह अहिसा से हो ही नही सकता। मसलन हम अहिसात्मक उपायो से साम्राज्य नही फैला सकते, किसीका देश नही लूट सकते। इटली ने अबीसीनिया मे जो अपना साम्राज्य स्थापन किया, वह तो हिसात्मक उपायो द्वारा ही हो सकता था।

इसके माने यह है कि अहिसा से हम धर्म की रक्षा कर सकते है, पाप की नही। और सग्रह यदि पाप का दूसरा नाम है, तो सग्रह की भी नही। अहिसा मे जिन्हे रुचि है, वे पाप की रक्षा करना ही क्यो चाहेगे ? अहिसा का यह मर्यादित क्षेत्र यदि हम हृदयगम करले, तो इससे बहुत-सी शकाओ का समाधान अपनेआप होजायगा। बात यह है कि जिस चीज की हम रक्षा करना चाहते है वह यदि धर्म है, तब तो अहिसात्मक विधियो से विपक्षी का हम सफलतापूर्वक मुकाबला कर सकते है। और यदि वह पाप है, तो हमे स्वय उसे त्याग देना चाहिए और ऐसी हालत मे प्रतिकार का प्रश्न ही नही रहता।

यह निर्णय फिर भी हमारे लिए बाकी रह जाता है कि "धर्म क्या है, अधर्म क्या है ?" पर धर्माधर्म के निर्णय मे सत्य के अनुयायी को कहा कठिनता हुई है ?

जिन खोजा तिन पाइयां गहरे पानी पैठ;
हौं बौरी ढूढन गई, रही किनारे बैठ ।

असल बात तो यह है कि जब हम धर्म की नही, पाप की ही रक्षा करना चाहते है, और चूकि अहिसा से पाप की रक्षा नही हो सकती, तब अहिसा के गुण-प्रभाव मे हमे शका होती है और अनेक तर्क-वितर्क उपस्थित होते है ।

राजनीति मे अहिसा के प्रवेश से यह उलझन इसलिए बढ गई है कि राजनीति का चित्र हमने वही खीचा है, जो यूरोप की राजनीति का हमारे सामने उपस्थित है । जातीयता का अभिमान, जातियो मे परस्पर वैरभाव, दूसरे देशो को दबा लेने का लोभ, हमारा उत्थान दूसरो के नाश से ही हो सकता है ऐसा भ्रम, उससे प्रभावान्वित होकर सीमा की मोर्चाबन्दी करना और नाना प्रकार के मारण-जारण शस्त्रास्त्रो की पैदाइश बढाना । घर के भीतर भी वही प्रवृत्ति है, जो बाहर के देशो के प्रति है । ऐसी हालत मे अहिसा हमारा शस्त्र हो या हिसा, इसका निर्णय करने से पहले तो हमे यह निर्णय करना होगा कि हमे चाहे व्यक्ति के लिए चाहे समाज के लिए शुद्ध धर्म का मार्ग ही अनुसरण करना है, या पाप का ? अपनी राजनीति हम मानवता की विस्तृत बुनियाद पर रचना चाहते है या कुछ लोगो के स्वार्थ की सकुचित भित्ति पर ? फिर चाहे वे कुछ लोग हमारे कुटुम्ब के हो या कबीले के, प्रात के या देश के ।

यूरोप मे ऐसे कई सच्चे त्यागी है, जो निजी जीवन मे केवल सत्य का ही व्यवहार करते है पर जहा स्वदेश के हानि-लाभ

का प्रश्न उठता है वहा सत्य , ईमानदारी, भलमनसाहत, सारी चीजो को तिलाजलि देने मे नही हिचकते । उनके लिए—यदि वे अहिसा धारण करना चाहे तो—एक ही मार्ग होगा—पापवृत्ति का त्याग, चाहे वह निजी स्वार्थ के लिए हो या स्वदेश के लिए। उनके लिए स्वदेश की कोई मीमा नही ।

अयं निज. परो वेति गणना लघुचेतसाम् ।
उदारचरितानातु वसुधैव कुटुम्बकम् ।।

ईश्वर की सारी सृष्टि उनके लिए स्वदेश है । दैवी मपदा की स्थापना और आसुरी का ह्रास, यह उनका ध्येय है ।

गाधीजी इसीलिए आत्म-शुद्धि पर बार-बार जोर देते है । यह ठीक भी है, क्योकि अहिसा-शस्त्र का मचालन बाहर की वस्तुओ पर नही, भीतर की वृत्तियो पर अवलम्बित है । फूटी हुई बन्दूक मे गोली भरकर चलाओ, तो क्या कभी निशाने पर जा मकती है ? वैसे ही, जो मनुष्य शुद्ध हृदयवाला नही है, दैवी सपदावाला नही है, वह अहिसा के शस्त्र को क्या उठायेगा ? असल मे तो शुद्ध मनुष्य स्वय ही शस्त्र है और स्वय ही उमका चालक है। यदि आत्मशुद्धि नही है, आसुरी सपदावाला है, तो उमकी हालत फूटी बन्दूक जैसी है। उमके लिए अहिसा के कोई माने नही। अहिसक मे ही अहिसा रह सकती है । अहिसा धारण करने से पहले मनुष्य को अहिसक बनना है । और अहिसक का सकुचित अर्थ भी किया जाये, तो वह यह है कि न्यायपूर्वक चलनेवाला नागरिक ।

"क्या सारा समाज अहिसात्मक होसकता है ? यदि नही, तो फिर इसका व्यावहारिक महत्त्व क्या ?" यह भी प्रश्न है । पर गाधीजी कहा यह आशा करते है कि सारा समाज हिसा का पूर्णतया त्याग कर देगा ? उनकी व्यूह-रचना इस बुनियाद पर है ही नही कि मारा ममाज अहिमा-धर्म का पालन करने

लग जाये। उनकी यह आशा अवश्य है कि समाज का एक बृहत अंग हिंसा की पूजा करना तो कम-से-कम छोड दे, चाहे फिर वह आचरणों में पूर्ण अहिंसावादी न भी हो सके।

यह आशा नही की जाती कि समाज का हर मनुष्य पूर्ण अहिंसक होगा। पर जहा हिंसक सेना के बल पर शांति और साम्राज्य की नींव डाली जाती है, वहा भी यह आशा नही की जाती कि हर मनुष्य युद्धकला में निपुण होगा। करोडो की बस्तीवाले मुल्क की रक्षा के लिए कुछ थोडे लाख मनुष्य काफी समझे जाते है। सौ में एक मनुष्य यदि सिपाही हो तो पर्याप्त माना जाता है। फिर उन सिपाहियों में से भी जो ऊपरी गणनायक होते है उन्हींकी निपुणता पर सारा व्यवहार चलता है।

आज इंग्लिस्तान में कितने निपुण गणनायक होंगे, जो फौज के संचालन में अत्यन्त दक्ष माने जाते है। शायद दस-बीस। पर बाकी जो लाखों की फौज है, उससे तो इतनी ही आशा की जाती है कि उसमें अपने अफसरों की आज्ञा पर मरने की शक्ति हो। इसी उदाहरण के आधार पर हम एक अहिंसात्मक फौज की भी कल्पना कर सकते है। अहिंसात्मक फौज के जो गणनायक हो उनमें पूर्ण आत्मशुद्धि हो, जो अनुयायी हो वे श्रद्धालु हो, और चाहे उनमें इतना तीक्ष्ण विवेक न हो पर उनमें सत्य-अहिंसा के लिए मरने की शक्ति हो। इतना यदि है, तो काफी है। इस हिसाब से अहिंसात्मक फौज बिलकुल अव्यावहारिक चीज साबित नही होती।

हा, यदि हमारी महत्त्वाकांक्षा साम्राज्य फैलाने की है, यदि हमारी आंखें दूसरों की सम्पत्ति पर गडी है, यदि भूखे पडोसियों के प्रति हमें कोई हमदर्दी नही है, हम अपने ही स्वार्थ में रत रहकर भोगों के पीछे पडे हुए है, या अपने ही भोगों को सुरक्षित रखना चाहते है तो अहिंसा के लिए कोई [illegible] है।

गन्दे कपडे की गन्दगी की यदि हम रक्षा करना चाहते है, तो पानी और साबुन का क्या काम ? वहा तो कीचड की जरूरत है। गन्दगी रोग पैदा करती है, मृत्यु को समीप लाती है, इसका हमे ज्ञान है। इसलिए हम गन्दगी की रक्षा करना चाहते है तो हम दया के पात्र है। अहिसा का पोषक हमे हमारी भूल से बचाने का प्रयत्न करेगा, पर हमारी गन्दगी का पोषण कभी नही करेगा, हम चाहे उसके स्वदेशवासी क्या, उसकी सन्तान ही क्यो न हो।

अहिसा को राजनीति मे गाधीजी ने जान-बूझकर प्रविष्ट किया है, क्योकि राजनीति मे अधर्म विहित है ऐसा मानकर हम आत्म-वचना करते थे। हम उलझन मे इसलिए पड गये है कि जहा हम गन्दगी का पोषण करना चाहते थे, वहा गाधीजी ने हमे पानी और साबुन दिया है। हम हैरान है कि पानी और साबुन से हमारी गन्दगी की रक्षा कैसे होसकती है ? और यह हैरानी सच्ची है, क्योकि गन्दगी की रक्षा किसी हालत मे न होगी। बस यही उलझन है, यही पहेली है और इसी के ज्ञान मे शका का समाधान है।

अहिसा कहो, सत्य कहो, मोक्ष भी कहो, ये एसी वस्तुए नही है कि सम्पूर्णतया जबतक इन चीजो की प्राप्ति न हो तबतक ये बेकार है। दरअसल जीवन मे इन चीजो की सम्पूर्णतया प्राप्ति असम्भव है। इतना ही कहा जा सकता है कि **अधिकस्याधिक फलम्** और **स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात्**—इसलिए ऐसी बात नही है कि बन्दूक की गोली दुश्मन के शरीर पर लगी तो सफल, वरना बेकार। यहा तो हार-जैसी कोई चीज ही नही है। जितनी भी आत्म-शुद्धि हुई, उतना ही फल।

गाधीजी सत्य और अहिसा का उपदेश देकर प्रकारातर से लोगो को अच्छे नागरिक बनने का उपदेश देते है। वह कहते है, "अति-

शय तृष्णा त्यागो", क्योकि स्वार्थवश किये गये अतिशय सग्रह की रक्षा अहिसा से याने धर्म से नही होसकती। यदि अधर्म से रक्षा करने का कार्यक्रम गढेगे, तो फिर अधर्म की ही वृद्धि होगी। इसलिए कहते है, "अतिशय तृष्णा त्यागो, पडोसी की सेवा करना सीखो, व्यवहार मे सचाई सीखो, सहिष्णु बनो, ईश्वर मे विश्वास रखो। किसीपर लोभवश आक्रमण न करो। यदि कोई दुष्टता से आक्रमण करता है, तो बिना मारे मरना सीखो। कायरता और अहिसा एक वस्तु नही है। शौर्य की आत्यतिकता का ही दूसरा नाम अहिसा है। क्षमा बलवान ही कर सकता है, इसलिए अत्यन्त शूर बनो। अत्यन्त शूर बनने के लिए जिन गुणो की जरूरत है उनकी वृद्धि करो, और शूर बनकर क्षमा करो। यदि इतना कर पाओ और ईश्वर मे श्रद्धा है, तो निर्भय बिचरो।"

गाधीजी के बाद क्या अहिसा पनपेगी ? अहिसा को गाधीजी के जीवन के पश्चात् प्रगति मिलेगी या विगति ?

बुद्ध और ईसामसीह के जीवन-काल मे जितना उनके उपदेशो ने जोर नही पकडा, उससे अधिक जोर उनकी मृत्यु के बाद पकडा। यह सही है कि उनके जीवन के बाद उनके उपदेशो का भौतिक शरीर तो पुष्ट होता गया, पर आध्यात्मिक शरीर दुर्बल बनता गया। तो फिर क्या यह कह सकते है कि बुद्ध का उपदेश आज नष्ट होगया है या ईसामसीह का तेज मिट गया है ? वर्षा होती है तब सब जगह पानी-ही-पानी नजर आता है। शरद मे वह सब सूख जाता है, तब क्या हम यह कहे कि वर्षा का प्रभाव नष्ट होगया ? बात तो यह है कि शरद मे धान्य के खलिहानो से परिपूर्ण खेत वर्षा के माहात्म्य का ही विज्ञापन करते है। वर्षा का पानी खेतो की मिट्टी मे अवश्य सूख गया, पर वही पानी अन्न के दानो मे प्रविष्ट होकर जीवित है। खेतो मे यदि पानी पडा रहता, तो गन्दगी फैलती,

कीचड, बदबू और विष पैदा करता। अन्न में प्रवेश करके उसने अमृत पैदा किया।

महापुरुषों के उपदेश भी इसी तरह पात्रों के हृदय में प्रवेश करके स्थायी अमृत बन जाते हैं। गेहूं के दाने से पूछिए कि वर्षा का पानी कहां है? वह बतायेगा कि वह पानी उसके शरीर में जिन्दा है। इसी तरह सत्पुरुषों के जीवन का फल भी पात्रों के हृदय में अमर हैं। गांधीजी का जीवन अहर्निश काम किये जा रहा है--और उनकी मृत्यु के बाद भी वह अमर रहेगा। बातों-ही-बातों में एक रोज उन्होंने कहा, "मेरी मृत्यु के बाद यदि अहिंसा का नाश होजाये, तो मान लेना चाहिए कि मुझमें अहिंसा थी ही नहीं।" यह सच्ची बात है, क्योंकि धर्म का नाश कैसे हो सकता है?

पर इस जमाने में तो हिंसा में श्रद्धा रखनेवालों की भी आंखें खुल रही हैं। पहलेपहल अबीसीनिया का पतन हुआ पीछे धीरे-धीरे एक के बाद एक मुल्क गिरते गये। पर जर्मनी ने लड़ाई छेड़ी तबसे तो बड़ी हिंसा के सामने छोटी हिंसा ऐसी निर्बल साबित हुई, जैसे फौलाद की गोली के सामने शीशे की हांडी। पोलैंड गया, फिनलैंड गया, नार्वे, बेल्जियम, हालैंड, फिर फ्रांस सब बात-की-बात में मिट गये, और मिटने से पहले स्मशान होगये। एक डेन्मार्क मिटा तो सही पर स्मशान नहीं हुआ।

प्रश्न उठता है कि इन देशों के लोग यदि बिना मारे मरने को तयार होते, तो क्या उनकी स्थिति आज की स्थिति से कहीं अच्छी नहीं होती? आज तो उनका शरीर और आत्मा दोनों ही मर गये। यदि वे बिना मारे मरते, तो बहुत सम्भव है कि उनका मुल्क उनके हाथ से शायद छिन जाता पर उनकी आत्मा आज से कहीं अधिक स्वतन्त्र होती और मुल्क भी शायद ही छिनता या न भी छिनता। आज तो छिन ही गया। ये लोग अहिंसा से लड़ते, तो इनकी

इस अनुपम अहिसा का जर्मनी पर सौगुना अच्छा प्रभाव पडता ।

'अक्रोधेन जयेत् क्रोधम्' यह वाक्य निरर्थक नही है । यह यूरोप का 'यादव-सग्राम' आखिर है क्या ? बढे हुए लोभ का ज्वालामुखी है, जो दहकती हुई आग से यूरोप के सारे मुल्को को भस्म करदेना चाहता है । ऐसी अग्निवर्षा मे अहिसा अवश्य ही वर्षा का काम देती । पर हर हालत मे यह तो साबित हो ही गया कि हिसा भी स्वतन्त्रता की रक्षा नही कर सकी । बेल्जियम, फ्रास और इग्लैड की सम्मिलित शक्ति बेल्जियम को नही बचा सकी । इसके बाद यदि कोई कहे कि "भाई हिसा की आजमाइश होगई, अब अहिसा जो अत्यन्त शौर्य का दूसरा नाम है, उसको जाग्रत करो और उससे युद्ध करना सीखो " तो उसे कौन पागल बता सकता है ? क्योकि अहिसा का उपदेशक प्रकारान्तर मे इतना ही कहता है, "पाप छोडो जो चीज जिसकी है वह उसे देदो ।

तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मा गृध कस्यस्विद्धनम्

धर्म मे चलो, क्योकि पाप खाजायेगा । धर्म ही रक्षा कर सकता है । न डरो न डराओ ।

धर्म-धारण के माने ही है उस स्वार्थ का सयम जो आज के भीषण सग्राम का स्रोत है । धर्म धारण करने के बाद सग्राम कहा, हिसा कहा ?

लोग कहते है, "पर यह क्या कोई मान सकता है ?" न माने, पर क्या इसलिए यह कहना चाहिए कि पाप करो, चोरी करो, झूठ बोलो, व्यभिचार करो ? ऐसे तार्किक तो गीताकार को भी कह सकते है कि क्या यह कोई मान सकता है ?

शौर्य की परमावधि का ही दूसरा नाम अहिसा है । कायरता का नाम अहिसा हर्गिज नही है । सम्पूर्ण निर्भयता मे ही अहिसा सभव होसकती है । और जो अत्यन्त शूर है, वही अत्यन्त निर्भय

होसकता है । असावधानी और अभय ये अलग-अलग चीजे है । जिसे प्रभाव के कारण या नशे मे भय का ज्ञान ही नही, वह निर्भय क्या होगा ? मगर जिसके सामने भय उपस्थित है, पर निर्भय है, वही परमशूर है, वही अहिसावादी है ।

एक हट्टे-कट्टे पिता को एक नादान बालक क्रोध मे आकर चपत जमा जाता है, तो पिता को न क्रोध आता है, न बदले मे चपत जमाने को उसकी हिसा-वृत्ति जाग्रत होती है। पर वही चपत यदि एक हट्टा-कट्टा मनुष्य लगाता है, तो क्रोध भी आता है और हिसा-वृत्ति भी जाग्रत होती है। यह इसलिए होता है कि बच्चे की चपत मे तो पिता निर्भय था, पर समवयस्क की चपत ने भय का सचार किया। इस तरह हिसा और भय का जोडा है। भय के आविर्भाव मे हिंसा और भय के अभाव मे अहिसा है। हिटलर और चर्चिल दोनो को एक-दूसरे का डर है। शौर्य का इस दृष्टि से दोनो ओर अभाव है। दोनो ओर इसीलिए हिसा का साम्राज्य है। शौर्य की आत्यन्तिकता मे अहिसा है, वैसे ही भय की आत्यन्तिकता मे कायरता है ।

एक और बात है । किसी प्राणी का हनन-मात्र ही हिसा नही है। एक ऐसे पागल की कल्पना हम कर सकते है, जिसके हाथ एक मशीनगन पड गई हो और वह पागलपन मे यदि जिन्दा रहने दिया जाये तो हजारो आदमियो का खून कर डाले। ऐसे मनुष्य को मारना हिसा नही कही जायगी। द्वेष-रहित होकर समबुद्धि से लोक-कल्याण के लिए किया गया हनन भी हिसा नही होसकती। पोलैड के स्वदेश-रक्षा के युद्ध के सम्बन्ध मे लिखते समय गाधीजी ने कहा "यदि पोलैड मे स्वार्थत्याग और शौर्य की आत्यन्तिकता है, तो ससार यह भूल जायेगा कि पोलैड ने हिसा द्वारा आत्म-रक्षा की। पोलैड की हिसा करीब-करीब अहिसा मे ही शुमार होगी ।"

पोलेंड की हिसा करीब-करीब अहिसा मे शुमार क्यो होगी, इसका विवेचन भी गाधीजी ने पिछले दिनो कुछ जिज्ञासुओ के सामने एक मौलिक ढग से किया। मेरा खयाल है कि वह विवेचन भी सम्पूर्ण नही था। और हो भी नही सकता था। एक ही तरह का कर्म एक समय धर्म और दूसरे समय अधर्म माना जा सकता है। एक कर्म धर्म है, इसका निर्णय तो स्वय ही करना है, पर पोलैंड की हिसा भी करीब-करीब अहिसा मे ही शुमार होसकती है, यह कथन उलझन पैदा कर सकता है, पर इसमे असगति नही है।

इस सारे विश्लेषण से अहिसा का शुद्ध स्वरूप और इसकी व्यावहारिकता समझने मे हमे कोई कठिनाई नही होनी चाहिए।

५

गाधीजी मे अहिसा-वृत्ति कब जाग्रत हुई, राजनीति मे, समाज-नीति मे और आपस के व्यवहार मे इसका प्रयोग कैसे शुरू हुआ इसके गुणो मे श्रद्धा कब हुई, यह बताना कठिन प्रयास है। हम देखते है कि कितनी ही चीजे जो हमे मालूम होती है कि हमारे भीतर अचानक आ गई वे दरअसल धीरे-धीरे ही पनपी है। गुणो के बीज हमारे भीतर रहते है जो धीरे-धीरे अकुरित होते है, फिर पनपते है। इसी तरह दुर्गुणो की भी बात है।

हम देखते है कि बचपन मे ही गाधीजी के चित्त पर सत्य और अहिसा के चित्रो की एक अमिट रूप-रेखा खिच चुकी थी। अत्यन्त बचपन मे गाधीजी एक मित्र की सोहबत के कारण अधर्म को धर्म मानकर, यह समझकर कि मासाहार समाज के लिए लाभप्रद है, स्वय भी मास खाने लगे। उन्हे यह कार्यक्रम चुभने लगा क्योकि यह काम वह लुक-छिपकर करते थे। उसमे असत्य था और मास खाना उन्हे रुचिकर भी नही था। पर एक बुराई से दूसरी बुराई आती है। मास खाने के बाद तम्बाकू पर मन गया। उसके लिए पैसे चाहिए, वे घर से चुराये। अब तो यह चीज असह्य होगई, और अन्त मे उन्होने यह तय किया कि सारी चीज पिता के सामने स्वीकार करके उनसे क्षमा याचना करनी चाहिए। न जाने पिता
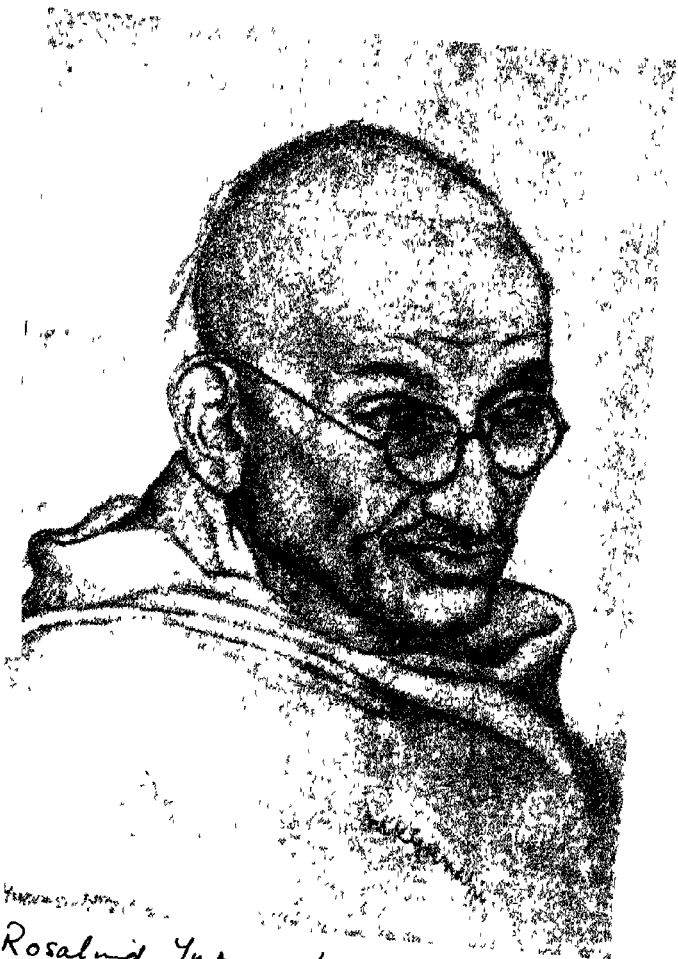
(चीनी चित्रकार द्वारा)

"भिक्षा देहि"

[फोटो—श्री कनु गांधी, सेवाग्राम, के सौजन्य से]

को कितनी चोट लगे, गाधीजी को यह भय था। पर उन्होंने सारा किस्सा पत्र मे लिखकर उसे पिता के हाथ मे रक्खा। पिता ने पढा और फूट-फूटकर रोने लगे। गाधीजी को भी रुलाई आगई। कौन बता सकता है कि पिता के ये आसू, चित्त को चोट पहुची उस दु ख का नतीजा थे, या पुत्र ने सत्य का आश्रय लिया उसके आनन्दाश्रु थे ? "मेरे लिए तो यह अहिसा का पाठ था। उस समय मुझे अहिसा का कोई ज्ञान नही था, पर आज मै जानता हू कि यह मेरी एक शुद्ध अहिसा थी।" पिता ने क्षमा कर दिया। गाधीजी ने इन बुरी चीजो को तलाक दिया। पिता-पुत्र दोनो का बोझ हलका होगया।

इस घटना से गाधीजी के विचारो मे क्या-क्या उथल-पुथल हुई, कोई नही बता सकता। पर अहिसा का बीज, मालूम होता है, यहीसे अकुरित हुआ। मगर गाधीजी उस समय तो निरे बच्चे थे। जब इग्लैड जाने लगे, तब तो सयाने होआये थे। पिता का देहान्त होचुका था। माता के सामने यूरोप जाने से पहले प्रतिज्ञा करली थी कि परदेश मे कुछ भी कष्ट हो, मास-मदिरा का सेवन न करूगा। पर इतने से जात-बिरादरीवालो को कहा सन्तोष हो-सकता था ? उन लोगो ने इन्हे जाने से रोका। "वहा धर्म भ्रष्ट होने का भय है।" "पर मैने तो प्रतिज्ञा करली है कि मै अभोज्य भोजन नही करूगा"— गाधीजी ने कहा। पर जातिवालो को कहा सन्तोष होता था ? गाधीजी को जात-बाहर कर दिया गया।

गाधीजी इग्लैड गये। अपनी प्रतिज्ञा पर अटल रहे। वापस लौटे, तब जाति-बहिष्कार सामने उपस्थित था। "पर मैने जात मे वापस दाखिल होने की न तो आकाक्षा ही की, न पचो के प्रति मुझे द्वेष ही था। पच मुझसे नाखुश थे, पर मैने उनका चित्त कभी नही दुखाया। इतना ही नही, जातिवालों के बहिष्कार के सारे नियमो का

मैंने सख्ती के साथ पालन किया, अर्थात् मैंने स्वय ही जात-बिरादरी वालो के यहा खाना-पीना बद कर दिया । मेरी ससुरालवाले और बहनोई मुझे खिलाना-पिलाना चाहते भी थे, पर लुक-छिपकर, जो मुझे नापसद था । इसलिए मैंने इन निकटस्थो के यहा पानी पीना तक बद कर दिया । मेरे इस व्यवहार का नतीजा यह हुआ कि हालाकि जातिवालो ने मुझे बहिष्कृत कर दिया, पर उनका मेरे प्रति प्रेम बढ गया । उन्होने मेरे अन्य कार्यों मे मुझे काफी सहायता पहुचाई । मेरा यह विश्वास है कि यह शुभ फल मेरी अहिंसा का परिणाम था ।"

अफ्रीका मे गाधीजी ने करीब बीस साल काटे । गये थे एक साधारण काम के लिए वकील की हैसियत से, पर वहा कालो के प्रति गोरो की घृणा, उनका जोर-जुल्म इतना ज्यादा था कि गाधीजी महज सेवा के लिए वहा कुछ दिन रुक गये । फिर तो स्वदेश-वासियो ने उन्हे वहासे हटने ही नही दिया, और एक-एक करके उनके इक्कीस साल वहा बीते । इस अरसे में उन्हे काफी लडना पडा, पर अहिंसा-शस्त्र मे जो श्रद्धा वहा जमी वह अमिट बन गई । अहिसा के बडे पैमाने पर प्रयोग किये, उसमे सफलता मिली और जो विपक्षी थे उनका हृदय-परिवर्तन हुआ । जनरल स्मट्स, जिसके साथ उनकी लडाई हुई, अन्त मे उनका मित्र बन गया । द्वितीय गोलमेज-परिषद् के समय जब गाधीजी लन्दन गये, तब स्मट्स वही था । उसने कहलाया कि यदि मेरा उपयोग होसके, तो आप मुझसे निस्सकोच काम ले । गाधीजी ने उसका साधारण उपयोग भी किया ।

पर अहिसात्मक उपायो द्वारा शत्रु मित्र के रूप मे कैसे परिणत होसकता है, इसका ज्वलत उदाहरण गाधीजी की इक्कीस साल की अफ्रीका की तपश्चर्या ने पैदा कर दिया । गाधीजी ने अफ्रीका मे

सूक्ष्मतया अहिसा का पालन किया। मार खाई, गालिया खाईं, जेल मे सडे, सब-कुछ यंत्रणाए सही, पर विपक्षी पर कभी क्रोध नही किया, धीरज नही खोया, हिम्मत नही छोडी, लडते गये, पर क्रोध त्यागकर। अन्त मे सफलता मिली, क्योकि **'अहिसा-प्रतिष्ठायां तत्सन्निधौ वैरत्यागः।'**

अफ्रीका मे काले-गोरे का भेद इतनी गहराई तक चला गया था कि कालो को, जिनमे हिन्दुस्तानियो का भी समावेश था, पटरी पर चलने की भी मुमानियत थी। रात को अमुक समय के बाद घर से निकलने का भी निषेध था। गाधीजी को टहलने-फिरने की काफी आदत थी, समय-बेसमय घूमना भी पडता था। एक रोज प्रेसिडेट क्रूगर के घर के सामने से गुजर रहे थे तो सन्तरी ने अचानक इन्हे धक्का मारकर पटरी से नीचे गिरा दिया और ऊपर से एक लात लगाई। गाधीजी चुपचाप मार खाकर खडे होगये। इन्हे तनिक भी क्रोध नही आया। इनके एक गोरे मित्र ने, जो पास से गुजर रहा था, यह घटना देखी। उसे क्रोध आगया। उसने कहा, "गाधी, मैने सारी घटना आखो देखी है। तुम अदालत मे इस सन्तरी पर मुकदमा चलाओ, मै तुम्हारा गवाह बनकर तुम्हारी ताईद करूगा। मुझे दु ख है कि तुम्हारे साथ यह दुर्व्यवहार हुआ।" गाधीजी ने कहा, "आप दुखी न हो। मेरा नियम है कि व्यक्तिगत अन्याय के प्रतिकार के लिए मै अदालत की शरण नही लेता। यह बेचारा मूर्ख क्या करे? यहाकी आबहवा ही ऐसी है। मै इसपर मुकदमा नही चलाना चाहता।" इसपर उस सन्तरी ने गाधीजी से क्षमा-याचना की।

पर ऐसी तो अनेक घटनाए हुई। बीच मे कुछ दिनो के लिए स्वदेश आकर गाधीजी अफ्रीका लौटे, तब वहाके गोरे अखबार-वालो ने इनके सम्बन्ध मे बहुत बढा-चढाकर झूठी-झूठी बाते अखबारो मे लिखी और गोरी जनता को इनके खिलाफ उभारा।

जहाज पर से गांधीजी उतरनेवाले थे, उस समय गोरी जनता ने इनके खिलाफ काफी प्रदर्शन किया। पुलिस ने और कई इनके मित्रो ने इन्हें कहलाया कि उतरने मे खतरा है, रात को उतरना अच्छा होगा। जहाज के कप्तान ने कहा, "यदि गोरो ने आपको पीटा, तो आप अहिसा से उनका प्रतिरोध कैसे करेगे?" गाधीजी ने उत्तर दिया, "ईश्वर मुझे ऐसी बुद्धि और शक्ति देगा कि मै उन्हें क्षमा करदू। मुझे उनपर क्रोध नही आसकता, क्योकि वे अज्ञान के शिकार है। उन्हे सचमुच मै बुरा लगता हू, तब वे क्या करे? और मै उनपर क्रोध कैसे करू?"

गाधीजी आखिर जहाज से उतरे। इनका एक गोरा मित्र इनकी रक्षा के लिए इनके साथ होलिया। इन्होने पैदल घर पहुचने का निश्चय किया, जिससे किसी तरह की कायरता साबित न हो। बस, गोरी जनता का इन्हे देखना था कि उसके क्रोध का पारा ऊचा उठने लगा। भीड बढने लगी। आगे बढना मुश्किल होगया। भीड ने इनके गोरे मित्र को पकडकर गाधीजी से अलहदा करके एक किनारे किया और इनपर होने लगी बौछार—पत्थर, ईंट के टुकडो और सडे अडो की। इनकी सिर की पगडी नोचकर फेक दी गई। ऊपर से लात और मुक्को के प्रहार होने लगे। गाधीजी बेहोश होगये। फिर भी लातो का प्रहार जारी रहा। पर ईश्वर को इन्हे जिन्दा रखना था। पुलिस सुपरिटेडेट की स्त्री ने, जो पास से गुजर रही थी, इस घटना को देखा। वह भीड मे कूद पडी और अपना छाता तानकर इनकी रक्षा के लिए खडी होगई। भीड सहम गई। इतने मे तो पुलिस सुपरिटेडेट खुद पहुच गया और इन्हे बचाकर लेगया। गाधीजी जिन्दा बच गये।

उभरा हुआ जोश जब शात हुआ तब, सम्भव है, लोगो को पश्चात्ताप भी हुआ होगा। ब्रिटिश सरकार ने अफ्रीका की सरकार

से कहा कि गुण्डे गोरो को पकडकर सजा देनी चाहिए। पर गांधीजी ने कहा, "मुझे किसीसे बैर नही है। जब सत्य का उदय होगा तब मुझे मारनेवाले स्वय पश्चात्ताप करेगे। मुझे किसीको सजा नही दिलवानी है।" आज तो यह कल्पना भी हमारे लिए असह्य है कि गांधीजी को कोई लात-मुक्का मारे या उनको गालिया दे।

डेढ साल पहले की बात है। गाधीजी ने दिल्ली मे श्री लक्ष्मी-नारायणजी के मन्दिर का उद्घाटन किया था। कोई एक लाख मनुष्यो की भीड थी। तिल रखने को भी जगह नही थी। बडी मुश्किल से गाधीजी को मन्दिर के भीतर उद्घाटन-क्रिया करने के लिए पहुचाया गया। मन्दिर के बाहर नरमुण्ड-ही-नरमुण्ड दिखाई देते थे। वृक्षो की हरी डालिया भी मनुष्यो से लदी पडी थी। भीड गाधीजी के दर्शन के लिए आतुर थी। गाधीजी ने मन्दिर के छज्जे पर खडे होकर लोगो को दर्शन दिये। एक पल पहले ही भीड बुरी तरह कोलाहल कर रही थी। पर जहा गाधीजी छज्जे पर आये—हाथ जोडे हुए, बिल्कुल मौन—वहा भीड का सारा कोलाहल बन्द होगया और सहस्रो कण्ठो से केवल एक ही आवाज, एक ही स्वर गगन को भेदता हुआ चला गया—"महात्मा गाधी की जय!"

यह दृश्य विचारपूर्वक देखनेवाले को गद्गद कर देता था। मेरी घिग्घी बध गई। मै विचार के प्रवाह मे बहा जारहा था। सोचता था कि यह कैसा मनुष्य है! छोटासा शरीर, अर्द्धनग्न, जिसने इतने लोगो को मोहित कर दिया, जिसने इतने लोगो को पागल कर दिया! उस भीड मे शायद दस मनुष्य भी ऐसे न होगे, जिन्होने गाधीजी से कभी बात भी की हो। पर तो भी उनके दर्शन-मात्र से सब-के-सब जैसे पागल होगये। वृक्षो की डालियो पर हजारो मनुष्य लदे थे, जिन्हे अपनी सुरक्षितता का भी भान नही था। वे भी केवल "महात्मा गाधी की जय" बस इसी चिल्लाहट मे मग्न थे।

एक वृक्ष की डाल टूटी। उसपर पचासो मनुष्य लदे थे। डाल कड़कडाती हुई नीचे की ओर गिरने लगी। पर ऊपर चढे लोग तो "महात्मा गाधी की जय" की बुलन्द आवाज मे मस्त थे। किसीको अपनी जोखिम का खयाल न था। डाल नीचे जा गिरी। किसीको चोट न आई। एक यह दृश्य था जिसमे "गाधीजी की जय" चिल्लाने-वाले गाधीजी के पीछे पागल थे। उनके एक-एक रोम के लिए वह भीड अपना प्राण न्यौछावर करने को तैयार थी। और एक वह दृश्य था, जिसमे गोरी भीड "गाधी को मार डालो" इस नारे के पीछे पागल थी।

गाधीजी द्वितीय गोलमेज-परिषद् के लिए जब गये, तो वहा करीब साढे तीन महीने रहे। जहा भी गये वहा भीड इनपर मोहित थी, प्रेम से मुग्ध थी। आज यदि यह अफ्रीका भी जाये, तो इनके प्रेम के पीछे वहाकी गोरी जनता भी पागल होजाय। यह सब पागलपन इसीलिए है कि गाधीजी ने मार खाकर, लाते खाकर भी क्षमा-धर्म को नही छोडा। अफ्रीका की गोरी भीड के पागलपन का वह दृश्य हमारी आखो के सामने आने पर हमे चाहे क्रोध आजाये, पर वही दृश्य था, वही घटना थी, और ऐसी अनेक घटनाए थी, जिन्होने आज के गाधी को जन्म दिया। ईसामसीह सूली पर न चढता, तो उसकी महानता प्रकट न होती। गाधीजी ने यदि शाति-पूर्वक लाते न खाई होती, तो उनकी क्षमा कसौटी पर सफल न होती।

गाधीजी महात्मा है, क्योकि उन्होने मारनेवालो के प्रति भी प्रेम किया। "मेरी इस वृत्ति ने, जिन-जिनके समागम मे मै आया उनसे मेरी मैत्री करा दी। मुझे अक्सर सरकारी महकमो से झग-डना पडता था, उनके प्रति सख्त भाषा का प्रयोग भी करना पडता था, पर फिर भी उन महकमो के अफसर मुझसे सदा प्रसन्न रहते

थे। मुझे उस समय यह पता भी न था कि मेरी यह वृत्ति मेरा स्वभाव ही बन गई है। मैने पीछे यह जाना कि सत्याग्रह का यह अग है और अहिसा का यह धर्म है कि हम यह जाने कि मनुष्य और उसके कर्म ये दो भिन्न-भिन्न चीजे है। जहा बुरे काम की हमे निन्दा और अच्छे की प्रशसा करनी चाहिए, वहा बुरे मनुष्य के साथ हमें दया का और भले के साथ आदर का बर्ताव करना चाहिए। 'पाप से घृणा करो, पापी से नही' यह मत्र बहुतो की समझ मे तो आजाता है, पर व्यवहार मे बहुत कम लोग इसके अभ्यस्त है। यही कारण है कि ससार मे बैर का विष-वृक्ष इतनी सफलता से पनपता है।

"अहिसा सत्य की बुनियाद है। मेरा यह विश्वास दिन-पर-दिन बढता जाता है कि यदि वह अहिसा की भित्ति पर नही है तो, सत्य का पालन असभव है। दुष्ट प्रणाली पर हमे आक्रमण करना चाहिए, उससे टक्कर लेनी चाहिए। पर उस प्रणाली के प्रणेता से बैर करना, यह आत्मवैर सरीखा है। हम सब-के-सब एक ही प्रभु की सतान है। हमारे सबके भीतर एक ही ईश्वर व्याप्त है, धर्मात्मा के भीतर और पापी के भीतर भी। इसलिए एक भी जीव को कष्ट पहुचाना मानो ईश्वर का अपमान और सारी सृष्टि को कष्ट पहुचाने-जैसी बात है।"

ये शब्द उस व्यक्ति के है, जिसने श्रद्धा के साथ अहिसा का सेवन किया है।

काम एष क्रोध एष रजोगुणसमुद्भवः ।
महाशनो महापाप्मा विद्ध्येनमिह वैरिणम् ॥

गीता मे काम एव क्रोध को दुश्मन बताया है और कहा है कि इन्हे बैरी समझो। पर यह बुराई के लिए घृणा है, न कि बुरे के लिए। बुरे के लिए तो दूसरा आदेश है—

मैत्रीकरुणा मुदितोपेक्षाणां, सुखदुःखपुण्यापुण्यविषयाणां भावनाश्चित्तप्रसादनम् ।

(पा० यो० द०)

बुरे अर्थात् पापी के लिए करुणा और उपेक्षा का आदेश है ।

६

गाधीजी ने अफ्रीका मे जो आश्रम बसाया था, उसका नाम रक्खा था "टालस्टॉय फार्म" । फिर स्वदेश लौटने पर साबरमती मे सत्याग्रह-आश्रम बसाया और अब सेवाग्राम मे आश्रम बनाकर रहते है । कुछ सयोग की बात है कि इन सभी आश्रमो मे साप-बिच्छुओ का बडा उपद्रव रहा है। गाधीजी स्वय सर्प को भी नही मारते। उन्होने सर्प मारने का निषेध नही कर रक्खा है, पर चूकि गाधीजी सर्प की हत्या नही करते, इसलिए और आश्रमवासी भी इस काम से परहेज ही करते है ।

सेवाग्राम मे एक बार रात को एक बहन का पाव बिच्छू पर पडा कि बिच्छू ने बडे जोर से डक मारा । रातभर वह बहन दर्द के मारे परेशान रही । न अफ्रीका मे, न हिन्दुस्तान मे—आजतक आश्रम मे सर्प ने किसीको नही काटा है। पर सर्प आये दिन पाव के सामने आजाते है और आश्रमवासी उन्हे पकडकर दूर फेक आते है । बिच्छू तो कई मर्तबा आश्रमवासियो को डक मार चुके । एक दिन महादेवभाई ने कहा, "बापू, आप सर्प नही मारने देते, इसलिए आपको कभी बहुत पछताना पडेगा । आये दिन साप आश्रम-वासियो के पावो मे लोटते है। अबतक किसीको नही काटा, पर यदि कोई दुर्घटना हुई और कोई मर गया तो आप कभी अपनेआपको

सतोष न दे सकेगे ।" "पर, महादेव," गाधीजीने कहा, "मैने कब किसीको मारने से मना किया है ? यह सही है कि मै नही मारता, क्योकि मुझे आत्मरक्षा के लिए भी साप को मारना रुचिकर नही है। पर अन्य किसीको मै जोखिम मे नही डालना चाहता। इसलिए लोगो को मारना हो, तो अवश्य मारे।" पर कौन मारे ? गाधीजी नही मारते, तो फिर दूसरा कौन मारे ?

"हमारे किसी आश्रम मे अबतक ईश्वर-कृपा से किसीको साप ने नही काटा। सभी जगह सापो की भरमार रही है, तथापि एक भी दुर्घटना नही हुई। मै इसमे केवल ईश्वर का ही हाथ देखता हूँ। कोई यह तर्क न करे कि क्या ईश्वर को आपके आश्रमवासियो से कोई खास मुहब्बत है, जो आपके नीरस कामो मे इतनी माथा-पच्ची करता होगा ? तर्क करनेवाले ऐसे तर्क किया करे, पर मेरे पास इस इकरगे अनुभव की व्याख्या करने के लिए, सिवाय इसके कि यह ईश्वर का हाथ है, और कोई शब्द नही है। मनुष्य की भाषा ईश्वर की लीला को क्या समझा सकती है ? ईश्वर की माया तो अवाच्य और अगम्य है। पर यदि मनुष्य साहस करके समझाये तो भी आखिर उसे अपनी अस्पष्ट भाषा ही की तो शरण लेनी पडती है। इसलिए कोई चाहे मुझे यह कहे कि आपके आश्रमो मे यदि साप से डसा जाकर अबतक न मरा तो यह महज अकस्मात था, इसे ईश्वर की कृपा कहना एक वहम है, पर मै तो इस वहम से ही चिपटा रहूगा।"

इस तरह गाधीजी की अहिसा अग्नि-परीक्षा मे सफल होकर सान पर चढी है।

७

"अहिसा सत्य की बुनियाद है ।" प्राय गाधीजी जब-जब अहिसा की बात करते है तब-तब ऐसा कहते है और सत्य पर जोर देते है । हमारे यहा आपद्धर्म के लिए कई अपवाद शास्त्रो मे विहित माने गये है । प्राचीनकाल मे जब बारह साल का घोर दुर्भिक्ष पडा, तब विश्वामित्र भूख से व्याकुल होकर जहा-तहा खाद्य-पदार्थ ढूढने निकले। जब कही भी उन्हे कुछ खाने को नही मिला, तो एक चाण्डाल-बस्ती में पहुचे और रात को एक चाण्डाल के यहा से कुत्ते का मास चुराने का निश्चय किया। पर चोरी करते समय उस चाण्डाल की आख खुल गई और उसने ऋषि से कहा, "आप यह अधर्म क्यो कर रहे है ?" विश्वामित्र की तो दलील यही थी कि आपद्काल मे ब्राह्मण के लिए चोरी भी विहित है ।

आपत्सु विहित स्तैन्यं विशिष्ट च महीयस ।
विप्रेण प्राणरक्षार्थ कर्त्तव्यमिति निश्चय. ॥

चाण्डाल ने उन्हे काफी धर्मोपदेश दिया । उन्हे समझाया कि आप पाप कर रहे है । अन्त मे विश्वामित्र उपदेश सुनते-सुनते ऊब गये । कहने लगे कि "मेढको की टर्राहट से गाय सरोवर मे जल पीने से विरत नही होती । तू धर्मोपदेश देने का अधिकारी नही है, इसलिए क्यो वृथा बकवाद करता है ?

पिबन्त्येवोदकं गावो मण्डूकेषु रुदत्स्वपि ।
न तेऽधिकारो धर्मेऽस्ति मा भूरात्मप्रशंसकः ॥

और क्या मै धर्म नही जानता ? यदि जिन्दा रहा तो फिर धर्म-साधन हो ही जायेगा, पर शरीर न रहा तो फिर धर्म कहा ? इसलिए इस समय प्राण बचाना ही धर्म है ।"

गाधीजी ने इस तरह का तर्क कभी नही किया । न उन्हें तर्क पसंद है ।

कुछ काम उन्होने आत्मा के विरुद्ध किये है । जैसे, उन्होने दूध न पीने का व्रत लिया था । व्रत की बुनियाद मे कई तरह के विचार थे । दूध ब्रह्मचारी के लिए उपयुक्त भोजन नही है, यह भी उनका मानना था, यद्यपि हमारे प्राचीन शास्त्रो से यह बात सिद्ध नही होती । पर जब व्रत लिया, तब गायो पर फूके की प्रथा का अत्याचार, जो कलकत्ते मे ग्वालो द्वारा प्रचलित था, उनकी आख के सामने था । व्रत लेलिया । कई सालो तक चला । अन्त मे अचानक रोग ने आघेरा । सबने समझाया कि दूध लेना चाहिए । गाधीजी इन्कार करते गये । गोखले ने समझाया, अन्य डाक्टरो ने कहा, पर किसीकी न चली । फिर दूसरी बीमारी का आक्रमण हुआ । वह ज्यादा खतरनाक थी । पर दूध के बारे मे वही पुराना हठ जारी रहा । एक रोज बा ने कहा, "आपने प्रतिज्ञा ली तब आपके सामने गाय और भैस के दूध का ही प्रश्न था, बकरी का तो नही था । आप बकरी का दूध क्यो न ले ?" गाधीजी ने बा की यह बात मानकर बकरी का दूध लिया, और तबसे बकरी का ही दूध लेते है। पर गाधीजी को यह शका है कि उन्होने बकरी का दूध लेकर भी व्रत-भग का दोष किया या नही ।

असल मे तो गाधीजी की आदत है कि जो प्रतिज्ञा या व्रत लिया, उसका अधिक-से-अधिक व्यापक अर्थ करना और उसपर अटल

रहना । यदि किया हुआ काम अनीतियुक्त मालूम हुआ, तो चट उस मार्ग से बिना किसीके आग्रह किये हट जाते है । पर जबतक उन्हे अपना मार्ग अनीतियुक्त नही लगता, तबतक छोटी-छोटी चीजो में भी वह परिवर्तन नही करते । घूमने जाते है तो उसी रास्ते से । सोने का स्थान वही, खाने का स्थान वही, बर्तन वही, चीजे वही । मैंने देखा है कि दिल्ली आते है तो आती बार निजामुद्दीन स्टेशन पर उतरते है और जाती बार बडे स्टेशन पर गाडी मे सवार होते है । मेरे यहा ठहरते है तो उसी कमरे में, जिसमे बार-बार ठहरते आये है । मोटर बदलना भी नापसद है । किसी भी आदत को ख्वाहमख्वाह नही बदलते । छोटी चीजो मे भी एक तरह की पकड है ।

"सत्य मेरा सर्वोत्तम धर्म है, जिसमे सारे धर्म समा जाते है । सत्य के माने केवल वाणी का सत्य नही है, बल्कि विचार मे भी सत्य । मिश्रित सत्य नही, पर वह नित्य, शुद्ध, सनातन और अपरिवर्तनशील सत्य, जो ईश्वर है । ईश्वर की तरह-तरह की व्याख्याए है, क्योंकि उसके अनेक स्वरूप है । इन व्याख्याओ को सुनकर मैं आश्चर्यचकित होजाता हू और स्तब्ध भी होजाता हू । पर मैं ईश्वर को सत्यावतार के रूप में पूजता हू । मैंने उसे प्राप्त नही किया है । पर मै उसकी खोज मे हू । इस खोज में मै फना होने को भी तैयार हू । पर जबतक मै शुद्ध सत्य नही पा लेता तबतक उस सत्य का, जिसको मैंने सत्य माना है, अनुसरण करता हू । इस सत्य की गली सकरी है और उस्तरे की धार की तरह पैनी है । पर मेरे लिए यह सुगम है । चूकि मैंने सत्य-मार्ग को नही छोडा, इसलिए मेरी हिमालय जितनी बडी भूले भी मुझे परेशानी मे नही डालती ।"

मालूम होता है कि सत्य, अहिसा और ईश्वर मे श्रद्धा, इन तीनो चीजो के अकुर उनके हृदय मे बचपन से ही थे । कौन बता सकता है कि कौन-सी चीज उनको पहले मिली ? पूर्वजन्म के

बीज तो साथ ही आये थे, पर मालूम होता है कि इस जन्म मे सत्य सबसे पहले अकुरित हुआ। "बचपन मे ही", वह कहते है, "एक चीज ने मेरे दिल मे गहरी जड करली है। वह यह कि धर्म सब चीजो का मूल है। इसलिए सत्य मेरा परम लक्ष्य बन गया। इसका आकार ज्यो-ज्यो मेरे दिल मे घर करता गया, त्यो-त्यो इसकी व्याख्या भी विस्तृत होती गई।"

गाधीजी बचपन मे बडी लज्जाशील प्रकृति के थे। दस-बीस दोस्तो के बीच भी उनका मुह नही खुलता था, और सार्वजनिक सभा मे तो उनकी जबान एक तरह से बद होजाती थी। लन्दन मे जब वह विद्याध्ययन मे लगे थे तब छोटी-छोटी सभाओ मे खडे होकर बोलने का मौका आया तो जबान ने उनका साथ न दिया। लोगो ने इनकी शर्मीली प्रकृति का मजाक उडाया। इन्हे भी इसमे अपमान लगा, पर यह चीज जवानी तक बनी रही। बैरिस्टर बनकर भारत लौटने पर भी यह कमी बनी रही। बम्बई की अदालत मे एक मुकदमे की पैरवी करने के लिए खडे हुए तो घिग्घी बध गई। मवक्किल को कागज वापस लौटाकर इन्होने अपने घर का रास्ता नापा।

यह शर्माऊ प्रकृति क्यो थी? आज गाधीजी की जबान धाराप्रवाह चलती है। पर उस धाराप्रवाह मे एक शब्द भी निरर्थक नही आता। क्या वह शर्माऊ प्रकृति सत्य का दूसरा नाम था? क्या उनकी हिचकिचाहट इस बात की द्योतक थी कि वह बोलो को तौल-तौलकर निकालना चाहते थे, और क्या इस शर्माऊ प्रकृति ने सत्य की जड को नही पोसा? "सिवा इसके कि मेरे शर्माऊपन के कारण मै बाज-बाज लोगो के मजाक का शिकार बन जाता था मेरी इस प्रकृति से मुझे कभी कोई हानि नही हुई। उलटा मेरा तो खयाल है कि इससे मुझे लाभ ही हुआ। सबसे बडा लाभ तो मुझे

यह हुआ कि मै शब्दो की किफायत करना सीख गया। स्वभावत मेरे विचारो पर एक तरह का अकुश आगया और अब मै यह कह सकता हू कि शायद ही कोई विचारहीन शब्द मेरी जबान या कलम से निकलते है। मुझे ऐसा स्मरण नही कि जो कुछ मैने कभी कहा या लिखा उसके लिए मुझे पश्चात्ताप करना पडा हो। अनुभव ने मुझे यह बताया कि मौन, सत्य के पुजारी लिए, आत्मनिग्रह का एक जबरदस्त साधन है। अतिशयोक्ति या सत्य को दबाने या विकृत करने की प्रवृत्ति मनुष्य मे अक्सर पाई जाती है। मौन एक ऐसा शस्त्र है, जो इन कमजोर आदतो का छेदन करता है। जो कम बोलता है, वह हर शब्द को तौल-तौलकर कहता है और इसलिए विचारहीन वाणी का कभी प्रयोग नही करता। मेरी इस लज्जा-शील प्रकृति ने मेरी सत्य की खोज मे मुझे अत्यन्त सहायता दी है।"

भगवान जिसके सिरपर हाथ रखते है, उसके दूषण भी उसके लिए भूषण बन जाते है। शिव ने विषपान करके ससार का भला किया। इसके कारण उनका कण्ठ नीला पड गया। पर उसने शिव के सौन्दर्य को और भी बढा दिया और शकर नीलकण्ठ कहलाये। गाधीजी की लज्जाशील प्रकृति ने, मालूम होता है, उनके लिए कई अच्छी चीजे पैदा करदी—शब्दो की किफायतशारी और तौल-तौलकर शब्दो का प्रयोग।

सत्य मे गाधीजी की इतनी श्रद्धा जम गई थी कि वह उनका एक स्वभाव-सा बन गया। सत्य के लाभ को वह युवावस्था मे ही हृदयगम कर चुके थे। जब लन्दन गये, तब अभोज्य भोजन और ब्रह्मचर्य के विषय मे माता के सामने प्रतिज्ञा करके गये थे। चूकि सत्य पर वह दृढ थे, उन्हे इस प्रतिज्ञा को निबाहने मे कोई परिश्रम नही करना पडा। लक्ष्य के प्रति उनकी श्रद्धा ने उन्हे गडहो मे गिरने से बचा लिया।

८

"ईश्वर के अनेक रूप हैं, पर मै उसी रूप का पुजारी हूं जो सत्य का अवतार है—वह नित्य, सनातन और अपरिवर्तनशील सत्य है, जो ईश्वर है।" हमारे पुराणो मे कई जगह कहा है कि ब्रह्मा, विष्णु और महेश ये एक ही ईश्वर के तीन रूप है। यदि व्यापक दृष्टि से देखा जाय तो मालूम होता है कि गाधीजी की अहिसा, सत्य और ईश्वर ये एक ही वस्तु है। रामनाम के माहात्म्य को गाधीजी ने पीछे पहचाना, पर इसमे श्रद्धा पहले हुई।

कहते है कि गाधीजी को बचपन मे भूत का डर लगता था, इसलिए यह समय-कुसमय अधेरे मे जाने से डरते थे। पर इनकी नौकरानी रभा ने इन्हे बताया कि रामनाम की ऐसी शक्ति है कि उसके उच्चारण से भूत भागता है। बालक गाधी को यह एक नया शस्त्र मिला और उसमे श्रद्धा जमती गई। पहले जो श्रद्धा अधी थी, ज्ञानविहीन थी, वह धीरे-धीरे ज्ञानवती होने लगी और बाद मे उस श्रद्धा के पीछे अनुभव भी जमा होने लगा।

मैने देखा है कि गाधीजी जब उठते है, बैठते है, जभाई लेते है या अगडाई लेते है, तो लम्बी सास लेकर "हे राम, हे राम" ऐसा उच्चारण करते है। मैने ध्यानपूर्वक अवलोकन किया है कि इनके "हे राम, हे राम" मे कुछ आह होती है, कुछ करुणा होती है, कुछ

बा

बापू : रेल में यात्रा करते हुए
[के. जी. शेठ वढ्वाण के सौजन्य से]

थकान होती है। मैंने मन-ही-मन सोचा है कि क्या वह यह कहते होगे, "हे राम, अब बुड्ढे को क्यो तेली के बैल की तरह जोत रक्खा है ? जो करना हो सो शीघ्र करो। जिस काम के लिए मुझे भेजा है उसकी पूर्णाहुति मे विलम्ब क्यो ?"

जयपुर के महाराज प्रतापसिह कवि थे। अपनी बीमारी के असह्य दु ख को जब बर्दाश्त न कर सके, तब उन्होने ईश्वर को उलाहना देते हुए गाया--

ग्वालीड़ा, थें काई जाणो रे पीड़ पराई।
थारे हाथ लकुटिया, कांधे कमलिया, थें बन-बन धेनु चराई।

पर गाधीजी के सम्बन्ध मे शायद ऐसा न होगा। क्योकि गाधीजी मे धीरज है। वह जानते है, ईश्वर की उनपर अत्यन्त अनुकपा है। उन्हे ईश्वर मे विश्वास है। यश-अपयश और हानि-लाभ की चिंता उन्होने भगवान के चरणो मे समर्पण करदी है, इस-लिए उन्हे अधैर्य नही है, उन्हे असतोष नही है। पर तो भी उनका करुणामय "हे राम, हे राम" कुछ द्रौपदी की पुकार या गज के आर्त्त-नाद की-सी कल्पना कराता है।

कुछ वर्षों पहले की बात है, एक सज्जन ने, जो भक्त माने जाते है, गाधीजी को लिखा, "मुझे रात को एक स्वप्न आया। स्वप्न मे मैंने श्रीकृष्ण को देखा। श्रीकृष्ण ने मुझसे कहा, "गाधी से कहो कि अब उसका अन्त नजदीक आगया है, इसलिए उसे चाहिए कि वह सारे काम-धाम छोडकर केवल ईश्वर-भजन मे ही लगे।" गाधीजी ने उस मित्र को लिखा, "भाई, मै तो एक पल के लिए भी ईश्वर-भजन को नही बिसारता। पर मेरे लिए लोक-सेवा ही ईश्वर-भजन है। दूसरी बात, समय नजदीक आगया है, क्या इसीलिए हम ईश्वर-भजन करे ? मै तो यह मानता हू कि हमारी गर्दन हम जन्मते है उसी दिन मे यमराज के हाथ मे है। फिर ईश्वर-भजन करने के

लिए हम बुढापेतक क्यो ठहरे ? ईश्वर भजन तो हर अवस्था मे हमे करना चाहिए।"

अजरामरवत् प्राज्ञो विद्यामर्थं च चिन्तयेत ।
गृहीत इव केशेषु मृत्यना धर्ममाचरेत् ।।

ईश्वर मे उनकी श्रद्धा इस जोर के साथ जम गई है कि हर चीज मे वह ईश्वर की ही कृति देखते है। आश्रमो मे सांपों ने किसीको नही काटा, यह ईश्वरीय चमत्कार। छोटी-मोटी कोई घटना होती है, तो वह कहते है—"इसमे ईश्वर का हाथ है।"

गाधी-अरविन समझौते के बाद वाइसराय के मकान से आते ही उन्होने पत्र-प्रतिनिधियो को एक लम्बा बयान दिया, जो उस समय एक अत्यन्त महत्व का वक्तव्य समझा गया था। वक्तव्य देने से पहले उन्हे खयाल भी न था कि क्या कहना उचित होगा। पर ज्योही बोलना शुरू किया कि जिह्वा धाराप्रवाह चलने लगी, मानो सरस्वती वाणी पर बैठी हो। इसी तरह गोलमेज-परिषद् मे उनका पहला व्याख्यान महत्त्वपूर्ण व्याख्यानो मे से एक था। उस व्याख्यान के देने से पहले भी उन्होने कोई सोच-विचार नही किया था। वैसे तो उनके लिए यह साधारण घटना थी, पर दोनो घटनाओ के पश्चात जब मैंने कहा, "आपका यह वक्तव्य अनुपम था, आपका यह व्याख्यान अद्वितीय था।"—तो उन्होने कहा, "इसमे ईश्वर का हाथ था।"

हम लोग भी, यदि हमसे कोई कहे कि आपका अमुक काम अच्छा हुआ तो, शायद यह कहेगे, "हा, आपकी दया से अच्छा हुआ" या "ईश्वर का अनुग्रह था।" पर हम लोग जब ईश्वर के अनुग्रह की बात करते है, तब एक तरह से वह सौजन्य या शिष्टाचार की बात होती है। किन्तु गाधीजी जब यह कहते है कि "इसमे ईश्वर का हाथ था", तब दरअसल वह इसी तरह महसूस भी करते है। उनकी श्रद्धा

एक चीज है, केवल शिष्टाचार या सौजन्य की वस्तु नही ।

एक इनका प्रिय साथी है, जो दुश्चरित्र है । उसको यह अपने घर मे रखते थे । यह अफ्रीका की घटना है । यद्यपि वह साथी चरित्र-हीन था, पर उसपर निश्शक होकर गाधीजी विश्वास करते थे । उसकी कुछ त्रुटियो का इन्हे ज्ञान था, पर इन्हे यह विश्वास था कि वह इनकी सगति से सुधर जायगा । एक रोज इनका नौकर दफ्तर में पहुचता है और कहता है कि जरा आप घर चलकर देखे कि आपका विश्वासपात्र साथी आपको कैसे धोखा देरहा है । गाधीजी घर आते है और देखते है कि उस विश्वासपात्र साथी ने एक वेश्या को घर पर बुला रक्खा है ! इन्हे सदमा पहुचता है । उस साथी को घर से हटाते है । उसके प्रति इन्हे प्रेम था । उसका सुधार करने के लिए ही उसे पास टिका रक्खा था । इनके लिए यह भी एक कर्त्तव्य का प्रयोग था । पर इसका जिक्र करते समय यही कहते है, "ईश्वर ने मुझे बचा लिया है । मेरा उद्देश्य शुद्ध था, इसलिए भगवान ने मुझे भविष्य के लिए चेतावनी देकर सावधान कर दिया और भूलो से बचा लिया ।" यह सारा किस्सा इनके अन्धविश्वास और भूल साबित होने पर झट अपनी भूल सुधार लेने की वृत्ति का एक सजीव उदाहरण है ।

एक घटना मणिलाल भाई के, जो इनके द्वितीय पुत्र है, कालज्वर से आक्रान्त होजाने की है, जिसे मै नीचे गाधीजी के शब्दो मे ही उद्धृत करता हूँ—

"मेरा दूसरा लडका बीमार होगया । कालज्वर ने उसे घेर लिया था । बुखार उतरता नही था । घबराहट तो थी ही, पर रात को सन्निपात के लक्षण भी दिखाई देने लगे । इस व्याधि से पहले, बचपन मे, उसे शीतला भी खूब निकल चुकी थी ।

डाक्टर की सलाह ली । डाक्टर ने कहा—इसके लिए दवा का

उपयोग नही होसकता, अब तो इसे अडे और मुर्गी का शोरबा देने की जरूरत है ।

मणिलाल की उम्र दस साल की थी, उससे तो क्या पूछना था ? जिम्मेदार तो मै ही था, मुझे ही निर्णय करना था । डाक्टर एक भले पारसी सज्जन थे । मैने कहा—डाक्टर, हम सब तो अन्नाहारी है । मेरा विचार तो लडके को इन दोनो मे से एक भी वस्तु देने का नही है । दूसरी वस्तु न बतलायेगे ?

डाक्टर बोले—तुम्हारे लडके की जान खतरे मे है । दूध और पानी मिलाकर दिया जा सकता है, पर उससे पूरा सतोष नही होसकता । तुम जानते हो कि मै तो बहुत-से हिन्दू-परिवारो मे जाया करता हू, पर दवा के लिए तो हम जो चाहते हैं वही चीज उन्हे देते है, और वे उसे लेते भी है । मै समझता हू कि तुम भी अपने लडके के साथ ऐसी सख्ती न करो तो अच्छा होगा ।

'आप जो कहते है वह तो ठीक है, और आपको ऐसा करना ही चाहिए, पर मेरी जिम्मेदारी बहुत बडी है । यदि लडका बडा होता, तो जरूर उसकी इच्छा जानने का प्रयत्न भी करता और जो वह चाहता वही उसे करने देता, पर यहा तो इसके लिए मुझे ही विचार करना पड रहा है । मै तो समझता हू कि मनुष्य के धर्म की कसौटी ऐसे ही समय होती है । चाहे ठीक हो या गलत, मैंने तो इसको धर्म माना है कि मनुष्य को मासादि न खाना चाहिए । जीवन के साधनो की भी सीमा होती है । जीने के लिए भी अमुक वस्तुओ को हमे नही ग्रहण करना चाहिए । मेरे धर्म की मर्यादा मुझे और मेरे स्वजनो को भी ऐसे समय पर मास इत्यादि का प्रयोग करने से रोकती है । इसलिए आप जिस खतरे को देखते है मुझे उसे उठाना ही चाहिए । पर आपसे मै एक बात चाहता हू । आपका इलाज तो मै नही करूँगा, पर मुझे इस बालक की नाडी और

हृदय को देखना नही आता है । जल-चिकित्सा की मुझे थोडी जान-कारी है । उपचारो को मैं करना चाहता हू, परन्तु जो आप नियम से मणिलाल की तबीयत देखने को आते रहे और उसके शरीर मे होनेवाले फेरफारो मे मुझे अभिज्ञ कराते रहें, तो मै आपका उप-कार मानूगा ।'

सज्जन डाक्टर मेरी कठिनाइयो को समझ गये और मेरी इच्छानुसार उन्होने मणिलाल को देखने के लिए आना मजूर कर लिया ।

यद्यपि मणिलाल अपनी राय कायम करने लायक नही था, तो भी डाक्टर के साथ जो मेरी बातचीत हुई थी वह मैने उसे सुनाई और अपने विचार प्रकट करने को कहा ।

'आप सुखपूर्वक जल-चिकित्सा कीजिए । मै शोरबा नही पीऊगा, और न अडे ही खाऊगा ।' उसके इन वाक्यो से मै प्रसन्न होगया, यद्यपि मै जानता था कि अगर मै उसे दोनो चीजो खाने को कहता तो वह खा भी लेता ।

मै कूने के उपचारो को जानता था, उनका उपयोग भी किया था । बीमारी मे उपवास का स्थान बडा है, यह मै जानता था । कूने की पद्धति के अनुसार मैने मणिलाल को कटिस्नान कराना शुरू किया । तीन मिनट से ज्यादा उसे मै टब मे नही रखता । तीन दिन तो सिर्फ नारगी के रस मे पानी मिलाकर देता रहा और उसी-पर रक्खा ।

बुखार दूर नही होता था और रात को वह कुछ-कुछ बडबडाता था । बुखार १०४ डिग्री तक होजाता था । मै चकराया । यदि बालक को खो बैठा तो जगत मे लोग मुझे क्या कहेगे ? बडे भाई क्या कहेगे ? दूसरे डाक्टर को क्यो न बुलाया जाये ? क्यो न बुलाऊ ? मा-बाप को अपनी अधूरी अक्ल आजमाने का क्या हक है ?

ऐसे विचार उठते । पर ये विचार भी उठते—'जीव ! जो तू अपने लिए करता है, वही लडके के लिए भी कर । इससे परमेश्वर सतोष मानेगे । मुझे जल-चिकित्सा पर श्रद्धा है, दवा पर नही । डाक्टर जीवनदान तो देते नही । उनके भी तो आखिर मे प्रयोग ही न है ? जीवन की डोरी तो एकमात्र ईश्वर के हाथ मे है । ईश्वर का नाम ले और उसपर श्रद्धा रख । अपने मार्ग को न छोड ।'

मन मे इस तरह उथल-पुथल मचती रही । रात हुई । मै मणिलाल को अपने पास लेकर सोया हुआ था । मैने निश्चय किया कि उसे भीगी चादर की पट्टी मे रक्खा जाये । मै उठा,कपडा लिया, ठढे पानी मे उसे डुबोया और निचोडकर उसमे पैर से लेकर सिरतक उसे लपेट दिया और ऊपर से दो कम्बल ओढा दिये, सिर पर भीगा हुआ तौलिया भी रख दिया । शरीर तवे की तरह तप रहा था, पसीना तो आता ही न था ।

मै खूब थक गया था। मणिलाल को उसकी मा को सौपकर मै आध घण्टे के लिए खुली हवा मे ताजगी और शान्ति प्राप्त करने के इरादे से चौपाटी की तरफ चला गया । रात के दस बजे होगे । मनुष्यो की आमद-रफ्त कम होगई थी, पर मुझे इसका खयाल न था ! विचार-सागर मे गोते लगा रहा था—'हे ईश्वर ! इस धर्म-सकट मे तू मेरी लाज रखना ।' मुह से 'राम-राम' की रटन तो चल ही रही थी । कुछ देर के बाद मै वापस लौटा ! मेरा कलेजा धडक रहा था । घर मे घुसते ही मणिलाल ने आवाज दी—'बापू ! आ-गये ?'

'हा, भाई ।'

'मुझे इसमे से निकालिए न ? मै तो मारे आग के मरा जारहा हू ।'

'क्यो पसीना छूट रहा है क्या ?'

'अजी, मैं तो पसीने से तर होगया। अब तो मुझे निकालिए न ?'

मैंने मणिलाल का सिर देखा। उसपर मोती की तरह पसीने की बूंदे चमक रही थी। बुखार कम होरहा था। मैंने ईश्वर को धन्य-वाद दिया।

'मणिलाल, घबरा मत। अब तेरा बुखार चला जायगा, पर कुछ और पसीना आजाय तो कैसा ?' मैंने उससे कहा।

उसने कहा—'नही बापू ! अब तो मुझे छुडाइए। फिर देखा जायगा।'

मुझे धैर्य आगया था, इसीलिए बातो ही मे कुछ मिनट गुजार दिये। सिर से पसीने की धारा बह चली। मैंने चद्दर को अलग किया और शरीर को पोछकर सूखा कर दिया। फिर बाप-बेटे दोनो सो गये। दोनो खूब सोये।

सुबह देखा तो मणिलाल का बुखार बहुत कम होगया था। दूध, पानी तथा फलो पर चालीस दिन तक रक्खा। मै निडर हो-गया था। बुखार हठीला था, पर वह काबू मे आगया था। आज मेरे लडको मे मणिलाल ही सबसे अधिक स्वस्थ और मजबूत है।

इसका निर्णय कौन कर सकता है कि यह रामजी की कृपा है या जल-चिकित्सा, अल्पाहार की अथवा और किसी उपाय की ? भले ही सभी अपनी-अपनी श्रद्धा के अनुसार बरते, पर उस वक्त मेरी तो ईश्वर ने ही लाज रक्खी। यही मैंने माना, और आज भी मानता हू।"

मुझे तो लगता है, और शायद औरो को भी लगे, कि गाधीजी का यह प्रयोग "ऊट वैद्य" या "नीम हकीम" का-सा प्रयोग था। यह जोखिम उठाना उचित नही था। "पर डाक्टर कहा शर्तिया इलाज

करता है, और जो चीज धर्म के विपरीत हो, उसे हम जान बचाने के लिए भी कैसे करे ?"

तृतीय पुत्र रामदास को साधारण चोट लगी थी, उसपर भी कुछ ऐसे ही मिट्टी के उपचार के प्रयोग किये गये। यह भी एक साधारण घटना थी। पर इसका जिक्र करने मे भी वही ईश्वरवाद आता है। "मेरे प्रयोग पूर्णत सफल हुए, ऐसा मेरा दावा नही है। पर डाक्टर भी ऐसा दावा कहा कर सकते है ? मै इन चीजो का जिक्र इसी नियत से करता हूँ कि जो इस तरह के नवीन प्रयोग करना चाहे, उसे स्वय अपने ऊपर ही इसकी शुरुआत करनी चाहिए। ऐसा करने से सत्य की प्राप्ति शीघ्र होती है। ईश्वर ऐसा प्रयोग करनेवाले की रक्षा करता है।"

ये वचन निश्चय ही सासारिक मापतौल के हिसाब से अव्यावहारिक है। सासारिक मापतौल, अर्थात्—जिसे लोग सासारिक मापतौल मानते है। क्योकि दरअसल तो अध्यात्म और व्यवहार दोनो असगत वस्तुए हो ही नही सकती। यदि अध्यात्म की ससार से पटरी न खाये तो यह फिर कोरी कल्पना की चीज रह जाता है। पर यह तर्क तो हम आसानी से कर सकते है कि जो क्षेत्र हमारा नही है उसमे पडने का हमे अधिकार ही कहा है ? यह सही है कि डाक्टर भी सम्पूर्ण नही है, पर यह भी कहा जासकता है कि जिसने डाक्टरी नही सीखी वह डाक्टर से कही अपूर्ण है। पर गाधीजी इसका जवाब यह देगे कि प्राकृतिक चिकित्सा के प्रयोग ही ऐसे है कि लाभ कम करे या ज्यादा, हानि तो कर ही नही सकते।

मैने देखा है कि आज भी ऐसे प्रयोगो के प्रति उनकी रुचि कम नही हुई है। आज भी आश्रम मे यक्ष्मा के रोगी है, कुष्ठ के रोगी है, और कई तरह के रोगी है और उनकी चिकित्सा मे गाधीजी रस लेते है। इसमे भावना तो सेवा की है। रोगियो की सेवा और पतितो

की रक्षा, यह उनकी प्रवृत्ति है । पर शायद जाने-अनजाने उनके चित्त मे यह भी भावना है कि गरीब मुल्क मे ऐसी चिकित्सा जो सुलभ हो, जो सादी हो, जो गाव-गंवई मे भी की जासके, जिसमे विशेष व्यय न हो, बजाय कीमती चिकित्सा के ज्यादा उपयोगी होसकती है । इस दृष्टि से भी उनके प्रयोग जारी है । उनमे मे कोई उपयोगी वस्तु ढूढ निकालने का लोभ चल ही रहा है । और चूकि ये प्रयोग सेवा के लिए सेवा की दृष्टि से होते है, यदि ये भगवान के भरोसे न हो तो काफी सकल्प-विकल्प और अशान्ति भी पैदा कर सकते है । जो हो, कहना तो यह था कि गाधीजी की ईश्वर-श्रद्धा हर काम मे हर समय कैसे गतिमान रहती है ।

"मै निश्चयपूर्वक तो नही कह सकता कि मेरे तमाम कार्य ईश्वर की प्रेरणा से होते है । पर जब मै अपने बडे-से-बडे और छोटे-से-छोटे कामो का लेखा लगाता हू, तो मुझे यह लगता है कि वे ईश्वर की प्रेरणा से किये गये थे, ऐसा कथन अनुपयुक्त नही होगा । मैने ईश्वर का दर्शन नही किया, पर उसमे मेरी श्रद्धा अमिट है और उस श्रद्धा ने अब अनुभव का रूप लेलिया है । शायद कोई यह कहे कि श्रद्धा को अनुभव का उपनाम देना, यह सत्य की फजीहत होगी । इसलिए मै कहूगा कि मेरी ईश्वर-श्रद्धा का नामकरण करने के लिए मेरे पास और कोई शब्द नही है ।"

ब्रह्मचर्य के सम्बन्ध मे लिखते हुए भी वही 'रामनाम' साधको के सामने रख देते है । "बिना उस प्रभु को शरण मे गये विचारो पर पूर्ण आधिपत्य असम्भव है । पूर्ण ब्रह्मचर्य के पालन के अपने इस सतत प्रयत्न मे, हर पल, मै इस सीधे-सादे सत्य का अनुभव कर रहा हू ।"

बा को अफ्रीका मे भयकर बीमारी ने आ घेरा, तब मास के शोरबे का प्रश्न आया । बा और गाधीजी दोनो ने डाक्टर की राय

को अस्वीकार किया। वहा भी जीवन-मरण का प्रश्न था। वहा भी गांधीजी के वही उद्गार थे। "ईश्वर मे विश्वास करके मैं अपने मार्ग पर डटा रहा" और अन्त मे विजय हुई।

पर इससे भी छोटी घटनाओ मे गाधीजी ईश्वर की लीला का वर्णन करते है। स्वदेश लौट आने के बाद जब-जब व्रह दौरे पर जाते थे, तब-तब थर्ड क्लास मे ही यात्रा करते थे। उस जमाने मे गाधीजी के नाम से तो काफी लोग परिचित होगये थे, पर आज की तरह सूरत-शक्ल से सब लोग उन्हे पहचानते नही थे। जहा जाते थे वहा लोगो को पता लगने पर दर्शनार्थियो की तो भीड लग जाती थी, जिसके मारे उन्हे एकान्त मिलना दुष्कर होजाता था, पर गाडी मे जहा लोग उन्हे पहचानते न थे वहा जगह मिलने की मुसीबत थी। और उन दिनो वह प्राय अकेले ही घूमते थे।

वर्षों की बात है। गाधीजी लाहौर से दिल्ली जारहे थे। वहा से फिर कलकत्ते जाना था। कलकत्ते मे एक मीटिग होनेवाली थी, इसलिए समय पर पहुचना था। पर लाहौर के स्टेशन पर जब गाडी पकडने लगे तो गाडी मे कही भी जगह न मिली। आखिर एक कुली ने इनसे बारह आने की बख्शीश मिले तो बिठा देने का वायदा किया। इन्होने बख्शीश देने का करार किया। पर जगह तो थी ही नही। एक डिब्बे के लोगो ने कहा, "जगह तो नही है, पर चाहो तो खडे रह सकते हो।" गाधीजी को जैसे-तैसे रेल मे बैठना था, इसलिए खडे रहना ही स्वीकार किया। कुली ने इन्हे खिडकी के रास्ते डिब्बे मे ढकेलकर अपने बारह आने गाठ मे दबाये।

अब रात का समय और खडे-खडे रात काटना। दो घटेतक तो खडे-खडे समय काटा। कमजोर शरीर, रास्ते की थकान। फिर गाडी का शोरगुल, धूल और धुआ और खडे रहकर यात्रा करना। कुछ धक्का-मुक्की करना जाननेवाले लोग तो लम्बी तानकर सो गये

थे, पर इन्होने तो बैठने के लिए भी जगह नही मागी। कुछ लोगो ने देखा, यह अजीब आदमी है जो बैठने के लिए भी झगडा नही करता। अन्त मे लोगो का कुतूहल बढा। "भाई, बैठ क्यो नही जाते ?" कुछ ने कहा। पर इन्होने कहा, "जगह कहा है ?" आखिर लोग नाम पूछने लगे। नाम बताया, तब तो सन्नाटा छा गया। शर्म के मारे लोगो की गर्दन झुक गई। चारो तरफ से लोगो ने अपने हाथ-पाव समेटना शुरू किया। क्षमा मागी जाने लगी और अन्त मे जगह दी और सोने को स्थान दिया। थककर प्राय बेहोश-जैसे होगये थे। सिर मे चक्कर आते थे। इस घटना का जिक्र करते समय भी गाधीजी इसमे ईश्वर की अनुकम्पा पाते है। "ईश्वर ने मुझे ऐसे मौके पर सहायता भेजी जबकि मुझे उसकी सख्त जरूरत थी।"

निलहे गोरो के अत्याचार से पीडित किसानो के कष्ट काटने के लिए यह जब चम्पारन जाते है तो किसानो की सभा करते है। दूर-दूर से किसान मीटिग मे आकर उपस्थित होते है। गाधीजी जब उस मीटिग मे जाते है तब उन्हे लगता है मानो ईश्वर के सामने खडे है। "यह कहना अत्युक्ति नही, बल्कि अक्षरश सत्य है कि उस सभा मे मैने ईश्वर, अहिसा और सत्य, तीनो के साक्षात दर्शन किये।" और फिर जब पकडे जाते है तो हाकिम के सामने जो बयान देते है वह सब प्रकार से प्रभावशाली और सौजन्यपूर्ण होता है। उसमे भी अन्त मे कहते है, "श्रीमान मजिस्ट्रेट साहब, मै जो कुछ कह रहा हू, वह इसलिए नही कि आप मेरे गुनाह की उपेक्षा करके मुझे कम सजा दे। मै केवल यही बता देना चाहता हूँ कि मैने आपकी आज्ञा भग की, वह इसलिए नही कि मेरे दिल मे सरकार के प्रति इज्जत नही है, पर इसलिए कि ईश्वर की आज्ञा के सामने मै आपकी आज्ञा मान ही नही सकता था।"

ये असाधारण वचन है। एक तरह से भयकर भी है। क्या हो,

यदि हर मनुष्य इस तरह के वचन बोलने लग जाये ? "अन्दरूनी आवाज", "अन्तर्नाद" या "आकाशवाणी" सुनना हरेक की किस्मत मे नही बदा होता। इन चीजो के लिए पात्रता चाहिए। कर्मों के पीछे त्याग और तप चाहिए। सत्य चाहिए। साहस चाहिए। विवेक चाहिए। समानत्व चाहिए। अपरिग्रह चाहिए। जो केवल सेवा के लिए ही जिन्दा है, जिसे हानि-लाभ मे कोई आसक्ति नही, जिसने कर्मयोग को साधा है, जिसकी ईश्वर मे असीम श्रद्धा है, जिसको अभिमान छू तक नही गया, वही मनुष्य अन्तर्नाद सुन सकता है। पर झूठी नकल तो सभी कर सकते है। "मुझे अन्दरूनी आवाज कहती है", ऐसा कथन कई लोग करने लगे है। गाधीजी की झूठी नकल अवश्य ही भयप्रद है, पर कौन-सी अच्छी चीज का ससार मे दुरुपयोग नही होता ?

पर प्रस्तुत विषय तो गाधीजी की ईश्वर मे श्रद्धा दिखाना है। लडके का बुखार छूटता है तो ईश्वर की मर्जी से, गाडी मे जगह मिलती है तो ईश्वर की मर्जी से, और सरकारी हुक्म की अवज्ञा होती है तो ईश्वर की आज्ञा से। ऐसे पुरुष के साथ कभी-कभी सासारिक भाषा मे बात करनेवालो को चिढ होती है। वाइसराय विलिग्डन को भी चिढ थी। पर आखिर गाधीजी के बिना काम भी तो नही चलता। चिढ हो तो हो। पेचदार भाषा की उलझन सामने होते हुए भी काम तो इन्हीसे लेना है। राजकोट मे जब आमरण उपवास किया, तब वाइसराय लिनलिथगो ने इन्हे तार भेजा कि "उपवास करने से पहले आप कम-से-कम मुझे सूचना तो देदेते। आप तो मुझे जानते है, इसलिए यकायक आपने यह क्या किया ?" गाधीजी ने लिखा, "पर मै क्या करता ? जब अन्तर्नाद होता है, तब कैसी सलाह और कैसा मशविरा ?"

बात-बात मे ईश्वर को सामने रखकर काम करने और बात

कहने की इनकी आदत, यह कोई अव्यावहारिक वस्तु नहीं है। बात यह है कि गाधीजी की हर चीज में जो धार्मिक दृष्टि है वह हम सबके लिए समझना कठिन है। उनकी ईश्वर के प्रति जीती-जागती सतत श्रद्धा को हम समझ नही सकते। इसलिए हमें कभी परेशानी तो कभी चिढ होती है। पर यदि हम बेतार के तार के विज्ञान को पूरा न समझते हो, तो क्या उस वैज्ञानिक से परेशान होजायेगे जो हमे इस विज्ञान को समझाने की कोशिश करता हो? क्या हम उस वैज्ञानिक से चिढ जायेगे, जो हमसे वैज्ञानिक भाषा मे उस विज्ञान की चर्चा करता है जिसे हम समझ नही पाते, क्योकि हम उस भाषा से अनभिज्ञ है? गाधीजी का भी वही हाल है। अध्यात्मविज्ञान के मर्म को उन्होने पढकर नही, बल्कि आचरण द्वारा पहचाना है।

गाधीजी मे जब धर्म की भावना जाग्रत हुई तब उन्होने अनेक शास्त्रो का अध्ययन किया। हिन्दू-धर्म की खोज की। ईसाई-मत का अध्ययन किया। इस्लाम के ग्रथ पढे। जरथुस्त्र की रचनाए पढी। चित्त को निर्विकार रखकर बिना पक्षपात के सब धर्मों के तत्वो को समझने की कोशिश की। आसक्ति-रहित होकर सत्यधर्म को, जो गुफा मे छिपा था, जानने का प्रयत्न किया। **धर्मस्य तत्त्वं निहित गुहायाम्।** इससे उनकी निरपेक्षता बढी, उनका प्रयत्न तेजस्वी बना, पर उन्हे सत्य मिला। उनमे बल आया। उनमे नीर-क्षीर-विवेक आया। साथ ही निश्चयात्मक बुद्धि भी प्रबल हुई। उनके निश्चय फौलाद के बनने लगे। अन्तर्नाद सुनाई देने लगा। इस अन्तर्नाद की चर्चा मे उनका सकोच भागा।

९

पर क्या वह हवा मे उडते है ? क्या वह अव्यावहारिक बन गये है ? तो फिर यह भी पूछा जाये कि क्या एक वैज्ञानिक अ-व्यावहारिक होता है ? गाधीजी इकहत्तर साल के होचुके। इन इकहत्तर बरसो मे इन्होने इतना नाम पाया, जितना अपने जीवन मे किसी महापुरुष ने नही कमाया। ससार इन्हे एक महात्मा की अपेक्षा एक महान राजनीतिज्ञ नेता के रूप मे ज्यादा जानता है। सकुचित विचार के अग्रेज इन्हे एक छलिया, फरेबी, पेचीदा और कूट राजनीतिज्ञ समझते है। कट्टरपथी मुसलमान इन्हे एक धूर्त और चालबाज हिन्दू समझते है, जिसका एकमात्र उद्देश है हिन्दू-राज की स्थापना। इससे कम-से-कम इतना तो प्रकट है कि यह कोई हवाई उडानवाले अव्यावहारिक पुरुष तो नही है। भारत की नाव का जिस चातुरी, धीरज और हिम्मत के साथ इन्होने पहले बीस साल अफीका मे और फिर पच्चीस साल स्वदेश मे सचालन किया, उसे देखकर चकित होना पडता है। यह कोई अव्यावहारिक मनुष्य का काम नही था। इनका राजनीति मे इन बीस बरसो मे एकछत्र राज रहा है। किसीने इन्हे चुनौती नही दी, और यदि दी तो वह स्वय गिर गया। गाधीजी राजनीति मे आज एक अत्यावश्यक, एक अपरिहार्य व्यक्ति बन गये है। क्या यह हवा मे विचरने का सबूत है ?

इनके पास सिवा प्रेम के बल के और कौन-सा बल है? पर इस प्रेम के बल ने इनके अनुयायियो के दिल मे इनका सिक्का जमा दिया है। इनके विपक्षियो पर इस प्रेम की छाप पडी है। ऐसे राजनीतिज्ञ नेता को कौन अव्यावहारिक कहेगा ? जो मनुष्य देश के लोगो मे एक जोरदार राजनैतिक, आध्यात्मिक और सास्कृतिक प्रगति पैदा करदे और उन्हे इन तमाम क्षेत्रो मे बडे जोर से उठाये, उसे भला कौन हवाई किले का बाशिदा कहेगा ? मेरा खयाल है, गाधीजी से बढकर चतुर और व्यावहारिक राजनीतिज्ञ कम देखने मे आते है।

पर असल बात तो यह है कि गाधीजी के जीवन मे राजनीति गौण है। असल चीज तो उनमे है धर्मनीति। राजनीति उन्होने धारण की, क्योकि यह भी उनके लिए मोक्ष का एक साधन है। खादी क्या, हरिजन-कार्य क्या, जल-चिकित्सा क्या, और बछडे की हत्या क्या, सारी-की-सारी उनकी हलचले मोक्ष के साधन है। लक्ष्य उनका है—ईश्वर-साक्षात्कार। उपर्युक्त सब व्यवसाय उनके लिए केवल साधन है। गाधीजी को जो केवल एक राजनैतिक नेता के रूप मे देखते है, उनके लिए गाधीजी की ईश्वर की रटत, उनकी प्रार्थना, उनका अतर्नाद, उनकी अहिसा, उनकी अन्य सारी आध्यात्मिकता, ये सब चीजे पहेली है। जो उन्हे आत्मज्ञानी के रूप मे देखते है, उनके लिए उनकी राजनीति केवल साधनमात्र दिखाई देती है।

आरुरुक्षोर्मुनेर्योगं कर्म कारणमुच्यते ।
योगारूढस्य तस्यैव शमः कारणमुच्यते ।।

गीता के इस तत्व को समझकर हम गाधीजी का अध्ययन करे, तो फिर वह पहेली नही रहते ।

"तो क्या एक अध्यात्मवादी राजनीति का सुचारु रूप मे सचालन कर सकता है ?" यह प्रश्न कई लोग करते है ।

इसका उत्तर यही है कि यदि नही सचालन कर सकता तो क्या

एक झूठा, अकर्मण्य, लोभी, स्वार्थी, अधार्मिक आदमी कर सकता है ? यदि एक नि स्वार्थ, ईश्वर-भक्त मनुष्य राजनीति का सचालन नही कर सकता, तो फिर गीता को पढकर हमे रद्दी की टोकरी मे फेक देना चाहिए। यदि राजनीति झूठ और दाव-पेच की ही एक कला है, तो फिर **यतो धर्म्मस्ततो जयः** के कोई माने नही।

हमने गलती से यो मान रक्खा है कि धर्म और राजनीति ये दो असगत वस्तुए है। गाधीजी ने इस भ्रम का छेदन किया और अपने आचरणो से हमे यह दिखा दिया कि धर्म और अर्थ दो चीजे नही है। सबसे बडा अर्थ है परम+अर्थ=परमार्थ। गीता ने जो कहा, उसका आचरण गाधीजी ने किया। जिस चीज को हम केवल पाठ की वस्तु समझते थे वह आचरण की वस्तु है, कोरी पाठ की नही, गाधीजी ने हमे यह बताया। गाधीजी ने कोई नई बात नही की। राजनीति और धर्मनीति का जिस तरह श्रीकृष्ण ने समन्वय किया, जिस तरह जनक ने राजा होकर विरक्त का आचरण किया, उसी तरह कर्मयोग को गाधीजी ने अपने आचार द्वारा प्रत्यक्ष किया। जिस तलवार मे जग लग चुका था उसे गाधीजी ने फिरसे सान पर चढाकर नया कर दिया।

चित्रकार
भूरसिंह, पिलानी

१०

उन्तीस अप्रैल सन् १९३३ की बात है। उन दिनो हरिजन-समस्या गाधीजी कर काफी हृदय-मथन कर रही थी। यरवडा-पैक्ट के बाद देश मे एक नई लहर आरही थी। जगह-जगह उच्चवर्ण हिन्दुओ मे हजारो सालतक हरिजनो के प्रति किये गए अत्याचारो के कारण आत्मग्लानि जाग्रत होरही थी। हरिजन-सेवक-सघ जोर-शोर से अपना सेवा-कार्य विस्तृत करता जारहा था। गाधीजी के लेखो ने हरिजन-कार्य मे एक नई प्रगति लादी थी। सत्याग्रह तो ठडा पड चुका था। वाइसराय विलिग्डन ने मान लिया था कि गाधीवाद का सदा के लिए खात्मा होने जारहा है। पर प्रधानमत्री रेम्जे मैक्डानल्ड के निर्णय के विरुद्ध गाधीजी के आमरण उपवास ने एक ही क्षण मे आये हुए शैथिल्य का नाश करके एक नया चैतन्य ला दिया। लोगो ने राजनैतिक सत्याग्रह को तो वही छोडा और चारो तरफ से हरिजन-कार्य मे उमड पडे। यह एक चमत्कार था। वर्षों से गाधीजी हरिजन-कार्य का प्रचार करते थे, पर उच्चवर्ण हिन्दुओ की आत्मा को वह जाग्रत नही कर सके थे। जो काम वर्षों मे नही होपाया था अब वह अचानक होगया।

पर जैसे हर क्रिया के साथ प्रतिक्रिया होती है वैसे ही हरिजन-कार्य के सम्बन्ध मे भी हुआ। एक तरफ हरिजनो के साथ जबर्दस्ती

सहानुभूति बढी, तो दूसरी ओर कट्टर विचार के रूढिचुस्त लोगो में कट्टरता बढी ।

हरिजनो के साथ जो दुर्व्यवहार होते आये थे वे शहरी और नये विचार के लोगो के लिए कल्पनातीत है। इन सात बरसो मे उच्चवर्ण हिन्दुओ की मनोवृत्ति मे आशातीत परिवर्तन हुआ है । पर उन दिनो स्थिति काफी भयकर थी । दक्षिण मे तो केवल अस्पृश्यता ही नही थी, बल्कि कुछ किस्म के हरिजनो को तो देखनेमात्र मे पाप माना जाता था । हरिजनो को ओसर-मोसर पर हलवा नही बनाने देना, घी की पूरी नही बनाने देना, पाव मे चादी का कडा नही पहनने देना, घोडे पर नही चढने देना, पक्का मकान नही बनाने देना, ये साधारण दुर्व्यवहारो की श्रेणी मे गिने जानेवाले अत्याचार तो प्राय सभी प्रान्तो और प्रदेशो मे उन दिनो पाये जाते थे, जो अब काफी कम होगये है ।

हरिजनो ने जब इस जाग्रति के कारण कुछ निर्भयता दिखानी शुरू की, तो कट्टर विचार के लोगो मे क्रोध की मात्रा उफन पडी। जगह-जगह हरिजनो के साथ मारपीट होने लगी। गाधीजी के पास ये सब समाचार जेल मे पहुचते थे । उनका विषाद इन दुर्घटनाओ से बढ रहा था । अस्पृश्यता हिन्दूधर्म का कलक है और उच्चवर्ण-वालो के सिर पर इस पाप की जिम्मेदारी है, ऐसा गाधीजी बराबर कहते आये है। हरिजनो के प्रति सद्व्यवहार करके हम पाप का प्राय-श्चित्त करेगे, ऐसा गाधीजी का हमेशा से कथन था। गाधीजी स्वय उच्चवर्णीय है, इसलिए यह अत्याचार उन्हे काफी पीडित कर रहा था। हृदय मे एक तूफान चलता था। क्या करना चाहिए, इसके सकल्प-विकल्प चलते थे। पडितो से पत्र-व्यवहार चल रहा था।

"ईश्वर यह अत्याचार क्यो चलने देता है ? रावण राक्षस था, पर यह अस्पृश्यता-रूपी राक्षसी तो रावण से भी भयकर

है। और इस राक्षसी की धर्म के नाम पर जब हम पूजा करते है, तब तो हमारे पाप की गुरुता और भी बढ जाती है। इससे हब्शियो की गुलामी भी कही अच्छी है। यह धर्म—इसे धर्म कहे तो—मेरी नाक मे तो बदबू मारता है। यह हिन्दूधर्म हो ही नही सकता। मैने तो हिन्दूधर्म द्वारा ही ईसाईधर्म और इस्लाम का आदर करना सीखा है। फिर यह पाप हिन्दूधर्म का अग कैसे होसकता है? पर क्या किया जाये?"

इस तरह के विचार करते-करते गाधीजी २९ अप्रैल की रात को जेल मे सोये। कुछ ही देर सोये होगे। इतने मे रात के ११ बजे। जेल मे सन्नाटा था। बसत का प्रवेश होचुका था। रात सुहावनी थी। मीठी हवा चलरही थी। कैदी सब सोरहे थे। केवल प्रहरी लोग जाग्रत थे। ११ बजे के कुछही समय बाद गाधीजी की आख खुली। नीद भाग गई। चित्त मे महासागर का-सा तूफान हिलोरे खाने लगा। बेचैनी बढने लगी। ऐसा मालूम देता था कि हृदय के भीतर एक सग्राम चल रहा है। इसी बीच एक आवाज सुनाई दी। मालूम होता था कि यह आवाज दूर से आरही है, पर तो भी ऐसा प्रतीत होता था कि जैसे कोई निकट से बोल रहा हो। पर वह आवाज ऐसी थी, जिसकी हुक्म उदूली असम्भव थी। आवाज ने कहा—"उपवास कर।" गाधीजी ने इसे सुना। उनको सन्देह नही रहा। उनको निश्चय होगया कि यह ईश्वरीय वाणी है। अब सग्राम शात होगया। बेचैनी दूर हुई। गाधीजी स्वस्थ होगये। उपवास कितने दिन का करना तथा कब आरम्भ करना, इसका निर्णय करके उन्होने इस सम्बन्ध मे अपना वक्तव्य भी लिख डाला और फिर गाढ निद्रा मे मग्न होकर सोगये।

ब्राह्ममुहूर्त मे उठकर वल्लभभाई और महादेवभाई के साथ प्रार्थना की। "उठ जाग मुसाफिर भोर भयो, अब रैन कहां जो

सोवत है', यह भजन महादेवभाई ने अनायास ही प्रार्थना मे गाया। गाधीजी ने महादेवभाई से कहा कि तुम रात को जागे हो, इसलिए थोडा आराम और करलो। महादेवभाई लेट गये। उन्हे तो पता भी नही था कि गाधीजी ने क्या भीषण सकल्प कर डाला है। गाधीजी ने जो वक्तव्य तैयार किया वह वल्लभभाई को सौंपा। सरदार ने उसे एक बार पढा, दो बार पढा, फिर तो सन्न होगये। इसमे तर्क को कोई स्थान नही था। और सरदार तो गाधीजी के स्वभाव को अच्छी तरह जानते है। "नियागरा के जल-प्रपात को रोकने की चेष्टा करना व्यर्थ है। महादेव, इनसे बढकर शुद्ध-बुद्ध और कौन है? जो बढकर हो वह इनसे तर्क करे। मै तो नही करूगा।" इतना ही सरदार ने महादेवभाई से कहा और **"ईश्वरेच्छा बलीयसी'** ऐसा समझकर चुप होगये।

महादेवभाई ने साधारण तर्क किया, पर अन्त मे ईश्वर पर भरोसा करके वह भी चुप होगये। दूसरे दिन तो सब जगह खबर पहुच गई। सारे देश मे सन्नाटा छा गया। मै ठहरा हरिजन-सेवक-सघ का अध्यक्ष। मेरे पास सन्देश पहुचा, जिसमे गाधीजी ने यह भी कहा कि पूना मत आओ। वही जो कर्तव्य है सो करो। मुझे स्पष्ट याद आता है कि मुझे और ठक्कर बापा को यह सन्देश पाकर विशेष चिन्ता न हुई। गाधीजी इतनी भीषण आफतो मे से सही-सलामत निकल चुके है कि इस अग्निपरीक्षा मे भी वह सफलतापूर्वक उत्तीर्ण होगे, ऐसा मुझे दृढ विश्वास था। इसलिए मैने तो यही लिख दिया कि "ईश्वर सब मगल करेगा। हम आपके लिए अहर्निश शुभ प्रार्थना करेगे। आपका उपवास सफल हो और वह सबका मगल करे।"

पर राजाजी को इतनी जल्दी कहा सन्तोष होता था? गाधीजी से काफी शास्त्रार्थ किया, तर्क किया, पर एक न चली। देवदास ने

भी अत्यन्त उदासी के साथ मिन्नत-आरजू की। जनरल स्मट्स ने अफ्रीका से एक लम्बा तार भेजा कि आप ऐसा न करे। पर ईश्वरीय आज्ञा के सामने गाधीजी किसीकी सुननेवाले थे ? सरकार ने भी जब देखा कि उपवास होरहा है, तो उन्हे पूना मे लेडी ठाकरसी के भवन "पर्णकुटी" मे पहुचा दिया।

इक्कीस दिन का यह उपवास एक दुष्कर चीज था। इससे कुछही महीनो पहले एक उपवास होचुका था। उससे काफी कमजोरी आगई थी। उस पहले उपवास मे कुछही दिनो बाद प्राण सकट मे आगये थे, इसलिए इस उपवास मे प्राण बचेगे या नही ऐसी अनेक लोगो को शका थी। पर गाधीजी ने कहा "मुझे मृत्यु की अभिलाषा नही है। मै हरिजनो की सेवा के लिए जिन्दा रहना चाहता हू। पर यदि मरना ही है तो भी क्या चिन्ता ? अस्पृश्यता की गदगी जितनी मैने जानी थी, उमसे कही अधिक गहरी है इसलिए यह आवश्यक है कि मै और मेरे साथी, यदि जिन्दा रहना है तो, अधिक स्वच्छ बने। यदि ईश्वर की यह मशा है कि मै हरिजनो की सेवा करू, तो मेरा भौतिक भोजन बद होने पर भी ईश्वर मुझे जो आध्यात्मिक भोजन भेजता रहेगा वह इस देह को टिकाये रक्खेगा, और यदि सब अपने-अपने कर्त्तव्य का पालन करते रहेगे तो वह भी मेरे लिए भोजन का काम देगा। कोई अपने स्थान से न हटे। कोई मुझे उपवास रोकने को न कहे।"

८ मई १९३३ को उपवास शुरू हुआ और २९ मई को ईश्वर की दया से सफलतापूर्वक समाप्त हुआ। उपवास की समाप्ति के कई दिनो बाद गाधीजी ने कहा "यह उपवास क्या था, मेरी इक्कीस दिन की निरन्तर प्रार्थना थी। इसका मेरे ऊपर जो अच्छा असर हुआ उसका मै अब अनुभव कर रहा हू। यह उपवास केवल पेट का ही निराहार न था, बल्कि सारी इन्द्रियो का निराहार था। ईश्वर मे

सलग्न होने के माने ही है तमाम शारीरिक क्रियाओ की अवहेलना, और वह इस आत्यतिक हदतक कि हम केवल ईश्वर के सिवा और सभी चीजो को भूल जाये। ऐसी अवस्था सतत प्रयत्न और वैराग्य के बाद ही प्राप्त होती है। इसलिए तमाम ऐसे उपवास एकतरह की अव्यभिचारिणी ईश्वर-भक्ति है, ऐसा कहना चाहिए।"

१९२४ की गर्मियो की बात है। गाधीजी जेल से छूटकर आये थे। अपेडिक्स का आपरेशन हुआ ही था। शरीर कुछ दुर्बल था। इसलिए स्वास्थ्य-लाभ के लिए जुहू ठहरे हुए थे। मै रोज उनके साथ टहलता था। पास मे बैठता था। घटो हर विषय पर उनसे चर्चा करता था। एक रोज ईश्वर पर चर्चा चली, तो मैने प्रश्न किया कि क्या आप मानते है कि आप ईश्वर का साक्षात्कार कर चुके है ?

"नही, मै ऐसा नही मानता। जब मै अफ्रीका मे था, तो मुझे लगता था कि मै ईश्वर के अत्यन्त निकट पहुच गया हू। पर मुझे लगता है कि उसके बाद मेरी अवस्था उन्नत नही हुई है। बल्कि मै सोचता हू तो लगता है कि मै पीछे हटा हूँ। मुझे क्रोध नही आता, ऐसी अवस्था नही है। पर क्रोध का मै साक्षी हू, इसलिए मुझपर क्रोध का स्थायी प्रभाव नही होता। पर इतना तो है कि मेरा उद्योग उग्र है। आशा तो यही करता हू कि इसी जीवन मे साक्षात्कार करलू। पर बाजी तो भगवान के हाथ मे है। मेरा उद्योग जारी है।"

इन बातो को भी आज सोलह साल होगये। इसके बाद मैने न कभी कुतूहल किया, न ऐसे प्रश्न पूछे। पर मै देखता हू कि ईश्वर के प्रति उनकी श्रद्धा और आत्मविश्वास उत्तरोत्तर बढते जाते है। पिछले दिनो किसीसे बात करते-करते कहने लगे

"अब मुझसे ज्यादा बहस-मुबाहिसा नही होता। मुझे मौन

प्रिय लगता है। पर मै ऐसा नही मानता कि मूक वाणी का कोई असर नहीं है। असलीयत तो यह है कि मूक वाणी की शक्ति स्थूल वाणी से कही अधिक बलवती है। लोग सत्याग्रह की बात करते है। सत्याग्रह जारी हुआ तो यह निश्चय मानना कि बीते काल मे जिस तरह मुझे दौरा करना पडता था या व्याख्यान देना पडता था वैसी कोई क्रिया मुझे अब नही करनी पडेगी। ऐसा समझलो कि मै सेवाग्राम मे बैठा हुआ ही नेतृत्व कर लूगा, इतना आत्मविश्वास तो आचुका है। यदि मुझे ईश्वर का पूर्ण साक्षात्कार होजाये तब तो मुझे इतना भी न करना पडे। मैने सकल्प किया कि कार्य बना उस स्थिति के लिए भी मेरे प्रयत्न जारी है।"

ये मर्मस्पर्शी वाक्य है। हमारे भीतर कैसी अकथ शक्ति भरी है, जिसको हम ईश्वर के नाम से भी पुकार सकते है, इसका स्मरण हमे ये शब्द कराते है।

अमुक काम मे ईश्वर का हाथ था, ऐसा तो गाधीजी ने कई बार कहा है, पर प्रत्यक्ष आकाशवाणी हुई है, यह उनका शायद प्रथम अनुभव था। मेरा खयाल है कि ईश्वर की उनकी असीम श्रद्धा का यह सबसे बडा प्रदर्शन था। मैने उनसे इस आकाशवाणी के चमत्कार पर लम्बी बाते की। पर बाते करते समय मुझे लगा कि इस चीज को मुझे पूर्णतया अनुभव कराने के लिए उनके पास कोई सुगम भाषा नही थी। कितनी भी सुगमता से समझाये, कितनी भी प्रबुद्ध भाषा का उपयोग करे, आखिर जो चीज भाषातीत है उसको कोई क्या समझाये ? जब हम कहते है कि एक आवाज आई, तब हम महज एक मानवी भाषा का ही प्रयोग करते है। ईश्वर की न कोई आकृति होसकती है, न शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गध इत्यादि से ईश्वर बाधित है। फिर उसकी आवाज कैसी, आकृति कैसी ? फिर भी आवाज तो आई। उसकी भाषा कौन-सी ? "वही भाषा जो हम स्वय

बोलते है ।" "उसके मानें है कि हमे लगता है कि कोई हमसे कुछ कहरहा है। पर ऐसा तो भ्रम भी होसकता है।" "हा, भ्रम भी होसकता है, पर यह भ्रम नही था।" इसके यह भी माने हुए कि उस "वाणी" को सुनने की पात्रता चाहिए। एक मनुष्य को भ्रम होसकता है। वह उसे आकाशवाणी कहेगा, तो ख्वाहमख्वाह अधश्रद्धा फैलायेगा। दूसरा अधिकारी है, जाग्रत है। वह कह सकता है कि यह भ्रम नही था। आकाशवाणी भी अन्य चीजो की तरह उसका पात्र ही सुन सकता है। सूर्य का प्रतिबिब शीशे पर ही पडेगा, पत्थर पर नहीं।

इक्कीस दिन का यह धार्मिक उपवास गाधीजी के अनेक उपवासो मे से एक था। छोटे-छोटे उपवासो की हम गणना न करे, तो भी अबतक शायद दस-बारह तो इनके ऐसे बडे उपवास ही हो-चुके है जिनमे इन्होने प्राणो की बाजी लगाई।

जैसे और गुणो के विषय मे, वैसे ही उपवास के विषय मे भी यह नही कहा जासकता कि यह प्रवृत्ति कैसे जाग्रत हुई। गुलाब का फूल पहले जन्मा या उसकी सुगध ? कौनसी प्रवृत्ति पहले जाग्रत हुई, कौनसी पीछे, इसका हिसाब लगाना यद्यपि दुष्कर है, पर इतना तो हम देख सकते है कि इनकी माता की उपवासो की वृत्ति ने शायद इनकी उपवास-भावना को जाग्रत किया। इनकी माता अत्यन्त धार्मिक प्रवृत्ति की थी। उपवासो मे उन्हे काफी श्रद्धा थी। छोटे-मोटे उपवास तो सालभर होते ही रहते थे। पर "चातुर्मास" मे तो एक ही बेला भोजन होता था। "चान्द्रायण" व्रत इनकी माता ने कई किये। एक "चातुर्मास" मे इनकी माता ने व्रत लिया कि सूर्यदर्शन के बिना भोजन नही करूगी। बरसात मे कभी-कभी सूर्य कई दिनोतक निकलता ही नही था। निकलता भी था तो चन्द मिनटो के लिए। बालक गाधी छत पर चढे-

चढे एकटक सूर्य के दर्शन की प्रतीक्षा करते रहते और दर्शन होते ही मा को खबर देते। पर कभी-कभी बेचारी मा पहुचे उससे पहले ही सूर्यदेवता तो मेघाच्छन्न आकाश मे लुप्त होजाते थे। पर मा को इससे असन्तोष नही होता था। "बेटा, रहने दो चिन्ता को, ईश्वर ने ऐसा ही चाहा था कि आज मै भोजन न करू।" इतना कहकर वह अपने काम मे लग जाती थी।

बालक गाधी पर इसकी क्या छाप पड सकती थी, यह हम सहज ही सोच सकते है। यह छाप जबर्दस्त पडी। पहला उपवास, मालूम होता है, उन्होने अफ्रीका मे किया, जबकि "टाल्स्टॉय फार्म" मे आश्रम चला रहे थे। यह कुछ दिनो के लिए बाहर थे। पीछे से आश्रमवासियो मे से दो के सम्बन्ध मे इन्हे पता लगा कि उनका नैतिक पतन हुआ है। इससे चित्त को चोट तो पहुचनी ही थी, पर इन्हे लगा कि ऐसे पतन की जिम्मेदारी कुछ हदतक आश्रम के गुरु पर भी रहती है। चूकि आश्रम के सचालक गाधीजी थे, इस दुर्घटना मे इन्होने अपनी जिम्मेदारी भी महसूस की। इसके लिए गाधीजी ने सात दिन का उपवास किया। इसके कुछ ही दिन बाद इसी घटना के सम्बन्ध मे इन्हे चौदह दिन का एक और उपवास करना पडा।

इसके बाद और अनेक उपवास हुए है। स्वदेश लौटने पर ऐसी ही घटनाओ को लेकर एक-दो और उपवास किये। अहमदाबाद की मिल-हडताल के लिए एक उपवास किया। हिन्दू-मुस्लिम-ऐक्य के लिए इक्कीस दिन का एक उपवास किया। हरिजनो की सीटो के सम्बन्ध मे प्रधानमत्री मैक्डानल्ड के निर्णय के विरुद्ध एक आमरण उपवास किया और फिर हरिजन-प्रायश्चित्त के लिए एक उपवास किया। हरिजन-प्रचार-कार्य के लिए सरकार ने जेल मे इनपर बदिश लगादी, तब एक और उपवास किया। हरिजन-

प्रवास की समाप्ति पर कुछ हरिजन-सेवको के असहिष्णु व्यवहार के प्रायश्चितस्वरूप वर्धा मे सात दिन का उपवास किया। एक उपवास राजकोट मे किया। प्रधानमत्री के निर्णय के विरुद्ध जो उपवास किया उसकी सफल समाप्ति मे कुछ हिस्सा मेरे भी जिम्मे आया था। इसलिए इस उपवास का निकट से अवलोकन और अध्ययन करने का मुझे काफी मौका मिला।

उन दिनो गाधीजी जेल मे ही थे। सत्याग्रह चल रहा था, यद्यपि लोगो की थकान बढती जाती थी। अचानक एक बम गिरा—लोगो ने सुना कि गाधीजी ने आमरण उपवास की ठानी है। चारो तरफ खलबली मच गई। मै तो यह समाचार अखबारो मे पढते ही हक्का-बक्का रह गया। गाधीजी को मैने तार भेजा कि क्या करना चाहिए ? मै तो सहम गया हू। फौरन उत्तर आया, "चिता की कोई बात नही। हर्ष मनाने की बात है। अत्यन्त दलित के लिए यह अन्तिम यज्ञ करने का ईश्वर ने मुझे मौका दिया है। मुझे कोई शका नही कि उपवास स्थगित नही किया जासकता। यहा से कोई सूचना या सलाह भेजने की मै अपनेमे पात्रता नही पाता।" किसीकी समझ मे नही आया कि क्या करना चाहिए, पर हमारे सबके मुह पूना की ओर मुडे और लोग एक-एक करके वहा पहुचने लगे।

राजाजी, देवदास और मै तो शीघ्र ही पूना पहुच गये। पूज्य मालवीयजी, सर तेजबहादुर सप्रू, श्री जयकर, राजेन्द्रबाबू, रावबहादुर राजा, ये लोग भी एक के बाद एक बम्बई और फिर पूना पहुचने लगे। पीछे से डाक्टर अम्बेडकर को भी बुला लिया गया था। सरकारी आज्ञा लेकर सर पुरुषोत्तमदास, सर चुन्नीलाल, मथुरादास वसनजी और मै सर्वप्रथम गाधीजी से जेल मे मिले। हम लोगो को गाधीजी से जेल-सुपरिटेडेट के कमरे मे

मिलाया गया। उपवास अभी शुरू नही हुआ था। कमरा एक-तल्ले पर था। उसकी खिडकियो मे से हमे जेल का काफी हिस्सा दृष्टिगोचर होता था। जहा फासी होनी है, वह हाता भी खिडकी मे से दिखाई देता था। गाधीजी के आने का रास्ता उसी हाते की दीवार के नीचे से गुजरता था। मैने गाधीजी को करीब नौ महीने से नही देखा था। अचानक खिडकी मे से मैने गाधीजी को तेजी के साथ हमारी ओर आते देखा। मै सब चिता भूल गया। गाधीजी तो इस तरह सरपट चले आरहे थे मानो कुछ हुआ ही नही था। उनकी तरफ फासी का हाता था, जहा, मैने सुना, दो-तीन दिन पहले ही एक आदमी को लटकाया गया था। मेरा जी भर आया। यह आदमी और ऐसी जगह पर !

गाधीजी ऊपर कमरे मे आये। मैने बडे प्रेम से पाव छुए। फिर तो काम की बाते होने लगी। उन्होने बडी सावधानी से हर चीज ब्यौरेवार समझाई। उपवास क्योकर बद होसकता है, यानी होने के बाद कैसे समाप्त होसकता है, इसकी शर्तों का ब्यौरेवार उन्होने जिक्र किया। बात करने से पहले जहा हमे उनका यह कार्य कुछ आवश्यकता से अधिक कठोर लगता था, बात करने पर वह धर्म है, एक कर्त्तव्य है, ऐसा लगने लगा। उनका मानसिक चित्र लेकर हम लोग वापस बम्बई लौटे और पूज्य मालवीयजी और दूसरे नेताओ को सारा हाल सुनाया।

मुझे याद आता है कि उस समय हमारे नेतागण किस तरह अत्यन्त आलस्य के साथ उलझन मे पडे हुए किकर्त्तव्यविमूढ हो-रहे थे। न तो गाधीजी का उपवास किसीको पसद था, न उनकी रचनात्मक सलाह की कोई उपयोगिता समझी जाती थी। न किसीको खयाल था कि समय की बरबादी गाधीजी की जान को जोखिम मे डाल रही थी। बारबार यही जिक्र आता था कि उन्हे

ऐसा नही करना चाहिए था। यह उनका बलात्कार है। उन्हे समझाना चाहिए कि वह अब भी उपवास छोड दे। यह कोई महसूस भी नही करता था कि न तो वह उपवास छोड सकते थे, न यह समालोचना का ही समय था। हमारे सामने एक ही प्रश्न था कि कैसे उस गुत्थी को सुलझाकर गाधीजी की प्राण-रक्षा की जाये। मुझे स्पष्ट याद है कि नेताओ मे एक मनुष्य था, जिसका दिमाग कुछ रचनात्मक कार्य कर रहा था। वह थे सर तेजबहादुर सप्रू। पर गाधीजी की प्राण-रक्षा का जिम्मा तो असल मे ईश्वर ने ले रक्खा था। हम वृथा ही चिन्ता करते थे।

हालांकि गाधीजी ने उपवास शुरू करने से पहले काफी समय देदिया था, पर उस समय का कोई भी सार्थक उपयोग न होसका। गाधीजी स्वय सारा कारबार अपने हाथ मे न लेलेते तो कोई उपयोगी काम होता या नही, इसमे भी मुझे शक है। उपवास शुरू होते ही सरकार ने जेल के दरवाजे खोल दिये। नतीजा इसका यह हुआ कि गाधीजी मे मिलना-जुलना बिना किसी रोक-टोक के होने लगा। इसलिए इस व्यवसाय की सारी बागडोर पूर्णतया गाधीजी के हाथो मे चली गई। सरकार का तो यही कहना था कि हरिजन और उच्चवर्ण के लोगो के बीच जो भी समझौता हो-जाये उसको वह मान लेगी। इसलिए वास्तविक काम यही था कि उच्चवर्ण और हरिजन नेताओ के बीच समझौता हो।

वैसे तो हम लोग समझौते की चर्चा मे रात्त दिन लगे रहते थे। पर दरअसल सिद्धातो के सम्बन्ध मे तो दो ही मनष्यो को निर्णय करना था। एक ओर गाधीजी और दूसरी ओर डाक्टर अम्बेडकर। पर इन सिद्धातो की नीव पर भी तो एक भीत चुननी थी। उसमे सर तेजबहादुर सप्रू की बुद्धि का प्रकाश हम लोगो को काफी सहायता देरहा था। मैने देखा कि गाधीजी यद्यपि धीरे-धीरे

निर्बल होते जाते थे, पर मानसिक सतर्कता मे किसी तरह का कोई फर्क न पडा। बराबर दिनभर कभी उच्चवर्ण के नेताओ से तो कभी अम्बेडकर से उनका सलाह-मशवरा चलता ही रहता था।

राजाजी, देवदास और मै अपने ढग से काम को प्रगति दे रहे थे। पर बागडोर तो सम्पूर्णतया गाधीजी के ही हाथ मे थी। गाधीजी का धीरज, उनकी असीम श्रद्धा, उनकी निर्भयता, उनकी अनासक्ति, यह सब उस समय देखने ही लायक थी। मौत दरवाजे पर खडी थी। सरकार क्रूरतापूर्वक तटस्थ होकर खडी थी। अम्बेडकर का हृदय कटुता से भरा था। हिन्दू नेता सुबह से शाम और शाम से सुबह कर देते थे, पर समझौता अभी कोसो दूर था। राजाजी, देवदास और मुझको कभी-कभी झुझलाहट होती थी। पर गाधीजी सारी चिन्ता ईश्वर को समर्पण करके शात पडे थे।

एक रोज जब जेल के भीतर मशवरा चल रहा था, तब गाधीजी ने कुछ हिन्दू नेताओ से कहा, "घनश्यामदास ने मेरी एक सूचना आपको बताई होगी।" एक नेता ने झटपट कह दिया, "नही, हमे तो कुछ मालूम नही।" गाधीजी ने एक क्षणिक रोष के साथ कहा, "यह मेरे दुर्भाग्य की बात है।" मुझे चोट लग गई। मै जानता था, और यह नेता भी जानते थे, कि गाधीजी की सारी सूचना मै उन्हे दे चुका था। पर जो लोग गाधीजी को एक अव्यावहारिक, हवा मे तैरनेवाला, शख्स मानते है, उन्हे गाधीजी की सूचना सुनने तक की फुरसत नही थी। उस सूचना को उन्होने महज मज़ाक मे उडा दिया था। मैने सब बाते याद दिलाई और इसपर उन नेता ने अपनी भूल सुधारी। पर बुरा असर तो हो ही चुका था। इसी तरह किसी छोटी-सी बात पर उस रोज देवदास और राजाजी पर भी गाधीजी को थोडा रोष आगया था। रात को नौ बजे सोने के समय गाधीजी को विषाद होने लगा। "मैने रोष करके अपने उपवास

की महिमा गिरादी ।" रोष क्या था, एक पलभर का आवेश था। पर गाधीजी के स्वभाव को इतना भी असह्य था। अपना दोष तिलभर भी हो तो उसे पहाड के समान मानना और पराया दोष पहाड के समान हो ता भी उसे तिल के समान देखना, यह उनकी फिलासफी है। बिहार मे जब भूकम्प हुआ, तो उन्होने उसे "हमारे पापो का फल" माना।

गाधीजी ने तुरन्त राजाजी को तलब किया और उनके सामने अत्यन्त कातर होगये। आखो से अश्रुओ की झडी लग गई। रात को ग्यारह बजे जेलवालो की मार्फत डेरे पर से देवदास की और मेरी बुलाहट हुई। मै तो सो गया था, पर देवदास गया। गाधीजी ने उससे "क्षमा" चाही। पिता पुत्र से क्या क्षमा मागे ? पर एक महापुरुष पिता यदि अपना व्यवहार सौ टच के सोने के जितना निर्मल न रक्खे, तो फिर ससार को क्या सिखा सकता है ?

राजाजी और देवदास दोनो से गाधीजी ने अत्यन्त खेद प्रकट किया और कहा कि इसी समय जाकर घनश्यामदास से भी मेरा खेद प्रकट करो। उन्होने तो मुझे जगाना भी उचित नही समझा, क्योकि इस चीज को हमने तिलभर भी महत्व नही दिया था। पर यह गाधीजी की महिमा है। "आकाशवाणी" वाले उपवास पर भी, जो कुछ हीने बाद किया गया था, इसी तरह राजा । और शकरलाल पर उन्हे कुछ रोष आगया था, जिसके लिए उन्होने राजाजी को एक माफी की चिट्ठी भेजी थी। राजाजी ने तो उस चिट्ठी को मजाक मे उडा दिया, क्योकि जिस चीज को गाधीजी रोष मानते थे वह हम लोगो की दृष्टि मे कोई रोष ही नही था।

पर यह तो दूसरे उपवास की बात बीच मे आगई। प्रस्तुत उपवास, जिसका जिक्र चल रहा था, वह तो चला ही जाता था। सुबह होती थी और फिर शाम होजाती थी। एक कदम

भी मामला आगे नही बढता था। देवदास तो एक रोज कातर होकर रोने लगा। गाधीजी की स्थिति नाजुक होती जाती थी। एक तरफ अम्बेडकर कैंडा जी करके बाते करता था, दूसरी ओर हिन्दू नेता कई छोटी-मोटी बातो पर अडे बैठे थे। प्राय मोटी-मोटी सभी बाते तय होचुकी थी, पर जबतक एक भी मसला बाकी रह जाये तबतक अतिम समझौता आकाशकुसुम की तरह होरहा था और अतिम समझौता हुए बिना उनकी प्राण-रक्षा असम्भव थी।

हरिजनो को कितनी सीटे दी जाये, यह अम्बेडकर के साथ तय कर लिया गया था। किस प्रात मे कितने हरिजन है, न्याय-पूर्वक उन्हे कितनी सीटे मिले, इसका ज्ञान ठक्कर बापा को प्रचुर-मात्रा मे था, जो उस समय हम लोगो के काम आया। चुनाव किस तरह हो, इस पद्धति के सम्बन्ध मे भी अम्बेडकर से समझौता हो-गया। पर यह पद्धति कितने साल चले, इसपर झगडा था। अम्बेड-कर चाहता था कि चुनाव की यह पद्धति तो दस साल के बाद ही समाप्त हो, पर जो सीटे हरिजनो के लिए अलग रिजर्व की गई हैं वे अलग रिजर्व बनी रहे या उच्चवर्ण के हिन्दुओ के साथ हो हरिजनो की सीटे भी सम्मिलित होजाये और सबका सम्मिलित चुनाव हो, यह प्रश्न पन्द्रह साल के बाद हरिजनो के वोट लेकर उनकी इच्छा-नुसार निर्णय किया जाये। पर हिन्दू नेता इसके खिलाफ थे। वे चाहते थे कि सारी-की-सारी पद्धति एक अरसे के बाद, ज्यादा-से-ज्यादा दस साल के बाद, खतम कर देनी चाहिए। उनकी दलील थी कि अछूतपन कलक है, इसलिए दस साल मे वह मिटा दिया जाये, और बाद मे राजनीति के क्षेत्र मे न कोई छूत रहे न अछूत, सबकी सम्मिलित सीटे हो।

अम्बेडकर साफ इकार कर गया और मामला फिर उलझ गया। गाधीजी की अपनी और राय थी। अम्बेडकर जब इस सबध

में जेल मे जाकर गाधीजी से बहस करने लगा तब गाधीजी ने कहा, "अम्बेडकर, मैं सारी सीटे बिना हरिजनो की मर्जी के सम्मिलित करने के पक्ष मे नही हू, पर मेरी राय है कि पाँच साल के बाद ही हम हरिजनो की अनुमति का वोट मागे और उनकी इच्छानुसार निर्णय करे।" पर डाक्टर अम्बेडकर ने कहा कि कि दस साल से पहले तो किसी भी हालत मे हरिजनो की अनुमति की जानकारी के लिए उनसे वोट न मागे जाये। यह बहस काफी देरतक चलती रही। गाधीजी की उत्कट इच्छा थी कि पाच साल के अन्दर ही-अन्दर सवर्ण अपने आचरण से हरिजनो को सम्पूर्णतया अपना ले। इस काम के लिए इससे अधिक समय लगजाना कल्पना के बाहर मालूम देता था। राजाजी और मैं चिंतित भाव से गाधीजी के मुह की तरफ देख रहे थे। मेरे दिल मे आता था कि जान की बाजी है, गाधीजी क्यो इतना हठ करते है ? पर गाधीजी नि शक थे। उनके लिए जीना-मरना प्राय एकसमान था। बाते चलती रही। अन्त मे गाधीजी के मुह से अचानक निकल गया—"अम्बेडकर, या तो पाच साल की अवधि, उसके बाद हरिजनो के मतानुसार अन्तिम निर्णय, नही तो मेरे प्राण।" हम लोग स्तब्ध होगये। गाधीजी ने तीर फेक दिया, अब क्या हो ?

लम्बी सास लेकर हम लोग वापस डेरे पर आगये। अम्बेडकर को समझाया, पर वह टस-से-मस न हुआ। उसके कट्टर हरिजन साथी डाक्टर सोलकी ने भी उसकी जिद को नापसद किया। मैंने राजाजी से कहा कि "राजाजी, क्यो पाच साल, और क्यो दस साल ? हम यही क्यो न निश्चय रक्खे कि भविष्य मे चाहे जब हरिजनो की अनुमति से हम इस करार को बदल सकेंगे ?" राजाजी ने कहा, कि गाधीजी को शायद यह पसद न आये। मैंने कहा—कुछ हम भी तो जिम्मेदारी ले। उन्हे पूछने का अब अवसर कहा है ?

चित्रकार
भूरसिंह, पिलानी

राजाजी ने कहा—तीर चलाओ। मैंने यह प्रस्ताव अम्बडकर के सामने रक्खा। लोगो ने इसका समर्थन किया और वह मान गया। एक समाप्ति तो हुई। पर गाधीजी की अनुमति तो बाकी थी। राजाजी जेल मे गये और गाधीजी को यह किस्सा सुनाया। उन्होने करार के इस प्रकरण की भाषा ध्यानपूर्वक सुनी। एक बार सुनी, दो बार सुनी, अन्त मे धीरे से कहा—"साधु!" सबके मुह पर प्रसन्नता छागई। मैं जब उनकी अनुमति मिल चुकी, तभी उनके पास पहुचा। और उनके चरण छुए। बदले में उन्होने जोर की थपकी दी। उपवास खुलने मे दो दिन और भी लगे, क्योकि इतना समय सरकार ने यरवडा-पैक्ट की स्वीकृति देने मे लगाया। २० सितम्बर १९३२ को उपवास शुरू हुआ, २४ को यरवडा-पैक्ट बना, २६ को सरकार की स्वीकृति मिली और उपवास टूटा।

पर सारी घटना मे देखनेलायक चीज यह थी कि मौत की साक्षात मूर्ति भी गाधीजी को एक तिल भी दाये-बाये नही डिगा सकी थी। सभी उपवासो मे इनका यही हाल रहा। राजकोट के उपवास मे भी एक तरफ मृत्यु की तैयारी थी, वमन जारी था, बेचैनी बढती जारही थी, और दूसरी तरफ वाइसराय से लिखा-पढी करना और महादेवभाई और मुझको (दोनो-के-दोनो हम दिल्ली मे थे) सदेश भेजना जारी था। इसमे कोई शक नही कि हर उपवास मे अन्तिम निर्णय–चाहे वह निर्णय हरिजन और उच्चवर्ण के नेताओ के बीच हुआ हो, चाहे वाइसराय और गाधीजी के बीच—गाधीजी की मृत्यु के डर के बोझ के नीचे दबकर हुआ। किसी मर्तबा भी शातिपूर्वक सोचने के लिए न समय था, न अवसर मिला। फिर भी गाधीजी कहते है कि "उतावलापन हिसा है।" तुलसीदासजी ने जब यह कहा कि "**समरथ को नहि दोष गुसाईं**" तब उन्होने यह कोई व्यग्योक्ति नही की थी। असल बात भी यह है कि समर्थ मनुष्य

के तमाम कामो मे एकरगापन देखना, यह बिल्कुल भूल है। एकरगापन यह जरूर होता है कि हर समय हर काम के पीछे सेवा होती है, शुद्ध भावना होती है। हर काम यथार्थ होता है, पर तो भी हर काम की शक्ल परस्परविरोधात्मक भी होसकती है।

११

गाधीजी के उपवासो की काफी समालोचना हुई है, और लोगों ने काफी पुष्टि भी की है। पर साधारण वाद-विवाद से क्या निर्णय होसकता है? उपवास एक व्यक्ति के द्वारा किये जाने पर पापमय और केवल धरना भी होसकता है, और दूसरे के द्वारा वही चीज धर्म और कर्त्तव्य भी होसकती है।

बात सारी-की-सारी मशा की है। उपवास यज्ञार्थ है क्या? फलासक्ति त्यागकर किया जारहा है क्या? शुद्ध बुद्धि से किया जारहा है क्या? करनेवाला सात्विक पुरुष है क्या? ईर्ष्या-द्वेष से रहित है क्या? इन सब प्रश्नो के उत्तर पर उपवास धर्म है या पाप है, इसका निर्णय होसकता है। पर निरी उपयोगिता की दृष्टि से भी हम उपवास-नीति के शुभ-अशुभ पहलू सोच सकते है।

ससार को उलटे मार्ग से हटाकर सीधे मार्ग पर लाने के लिए ही महापुरुषो का जन्म होता है। भिन्न-भिन्न महापुरुषो ने अपनी उद्देश्य-सिद्धि के लिए भिन्न-भिन्न मार्गों का अनुसरण किया। पर इन सब मार्गों के पीछे लक्ष्य तो एक ही था। नीति की स्थापना और अनीति का नाश—

यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम्॥

पर इस लक्ष्य-पूर्ति के लिए भिन्न-भिन्न महापुरुषो के साधनो

की बाहरी शक्ल-सूरत मे अवश्य ही भेद दिखाई देता है। प्रजा को सुशिक्षण देना, उसकी सोई हुई उत्तम भावनाओ को जाग्रत करना, इन सब उद्देश्यो की प्राप्ति महापुरुष अपने खुद के आचरणद्वारा और उपदेश-आदेशद्वारा करते है। **"मम वर्त्मानुवर्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः"** यह श्रीकृष्ण ने कहा। गाधीजी कहते है, "जैसे शारीरिक व्यायाम द्वारा शारीरिक गठन प्राप्त होसकता है और बौद्धिक व्यायाम द्वारा बौद्धिक विकास, वैसे ही आत्मोन्नति के लिए अध्यात्मिक व्यायाम जरूरी है और आध्यात्मिक व्यायाम का आधार बहुत अश मे गुरु के जीवन और चरित्र पर निर्भर करता है। गुरु यदि शिष्यो से मीलो दूर भी हो, तो भी अपने चरित्र-बल से वह शिष्यो के चरित्रो को प्रभावान्वित कर सकता है। यदि मै स्वय झूठ बोलता हू, तो अपने लडको को सत्य की महिमा कैसे सिखा सकता हू ? एक कायर शिक्षक अपने विद्यार्थियो को बहादुर नही बना सकता, न एक भोगी अध्यापक बालको को आत्मनिग्रह सिखा सकता है। इसलिए मैने यह देख लिया कि मुझे, कुछ नही तो अपने बालको के लिए ही सही, सत्यवान, शुद्ध और शुभकर्मी बनना चाहिए।" इसलिए सभी महापुरुषो ने अपने चरित्र और उपदेशो द्वारा ही धर्म का प्रचार किया है। धर्म की वृद्धि से अधर्म का स्वत ही नाश होता है। पर कभी-कभी अधर्म पर सीधा प्रहार भी महापुरुषो ने किया है। और अनीति का नाश करने के साधनो का जब हम अवलोकन करते है, तो मालूम होता है कि महापुरुषो के इन साधनो के बाहरी स्वरूप मे काफी भेद रहा है।

श्रीकृष्ण ने भूमि का भार हलका किया, अर्थात् ससार मे पापो का बोझ कम किया, तब जिन साधनो का उपयोग किया उनके बाहरी रूप मे और बुद्ध के साधनो के बाहरी रूप मे अवश्य भेद मिलता है। महाभारत का युद्ध, कस का नाश, शिशुपाल और जरासध इत्यादि

दुष्ट राजाओ का श्रीकृष्ण के द्वारा वध होना आदि घटनाएं हम ऐतिहासिक मानले, तो यह कहना होगा कि श्रीकृष्ण का भूमि-भार हरने का तरीका और बुद्ध का तरीका बाहरी स्वरूप मे भिन्न-भिन्न थे। पर हम कह सकते है कि मूल तो दोनो तरीको का एक ही है। जिनका वध किया उनसे श्रीकृष्ण को न द्वेष था, न ईर्ष्या थी, न उन्हे उनके प्रति क्रोध था।

परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्।
धर्मसंस्थापनार्थाय संभवामि युगे युगे॥

यह लक्ष्य था और जिस तरह एक विज्ञ जर्राह रोगी के सडे अग को रोगी की भलाई के लिए ही काटकर फेक देता है, उसी तरह श्रीकृष्ण ने और श्रीरामचन्द्र ने समाज की रक्षा के लिए, और जिनका वध किया गया उनकी भी भलाई के लिए, दुष्टो का दमन किया। जिनका वध किया गया—जैसे रावण, कस, जरासध इत्यादि, उन्हे भी श्रीरामचन्द्र और श्रीकृष्ण ने सुगति ही दी, ऐसा हमारे पुराण बताते है।

महापुरुषो ने दुष्टो का वध किया इसलिए हमे भी ऐसा ही करना चाहिए, ऐसी दलील तो हिसा के पक्षपाती चटपट दे डालते है। पर यह भूल जाते है कि ये वध बिना क्रोध, बिना द्वेष, फलासक्ति से रहित होकर समाज की रक्षा के लिए किये गये थे, और जो मारे गये उन्हे भगवान द्वारा सुगति मिली। इसलिए मूल मे तो राम क्या, कृष्ण क्या, और बुद्ध क्या, सभी समानतया अहिंसावादी थे। राम और कृष्ण के साधनो का बाहरी रूप हिसात्मक दिखाई देते हुए भी उसे हिसा नही कह सकते, क्योकि **"न मा कर्माणि लिम्पन्ति न मे कर्मफले स्पृहा"** और फिर,

योगयुक्तो विशुद्धात्मा विजितात्मा जितेन्द्रियः।
सर्वभूतात्मभूतात्मा कुर्वन्नपि न लिप्यते॥

इन वचनो को यदि हम ध्यानपूर्वक सोचें तो सहज ही समझ म आजायेगा कि श्रीराम और श्रीकृष्ण हिसा से उतने ही दूर थे जितने कि बुद्ध ।

गाधीजी ने भी बछडे की हत्या करके उसे अहिसा बताया, क्योकि मारदेनामात्र ही हिसा नही है—

यस्य नाहंकृतो भावो बुद्धिर्यस्य न लिप्यते ।
हत्वापि स इमांल्लोकान्न हन्ति न निबध्यते ।

हिसा-अहिसा का निर्णय करने के लिए हमे यह भी जानना जरूरी है कि मारनेवाले ने किस मानसिक स्थिति मे किस भावना से वध किया है । वध करनेवाले की मानसिक स्थिति और भावना ही हमे इस निर्णय पर पहुँचा सकती है कि अमुक कर्म हिसा है या अहिसा । पर राग-द्वेष से रहित होकर, अक्रोधपूर्वक, शुद्धभाव से लोककल्याण के लिए, किसीका वध करनेवाला क्या कोई साधारण पुरुष होसकता है ? वह तो कोई असाधारण दैवी पुरुष ही होसकता है । इसके माने यह भी हुए कि उत्तम उद्देश्य के लिए भी हिंसात्मक शस्त्र-ग्रहण साधारण मनुष्य का धर्म नही बन सकता । राग, द्वेष, क्रोध और ईर्ष्या से जकडे हुए हम न तो हिसा-शस्त्र धर्मपूर्वक चला सकते है, न राग-द्वेष के कारण जिनकी विवेक-बुद्धि नष्ट होगई है वे यही निर्णय कर सकते है कि वध के योग्य दुष्ट कौन है । राग-द्वेष से रहित हुए बिना हम यह भी तो सही निर्णय नही कर सकते कि दुष्ट हम है या हमारा विरोधी । यदि हम दुष्ट है और हमारा विरोधी सज्जन है, तो फिर लोक-कल्याण का बहाना लेकर हम यदि हिसा-शस्त्र का उपयोग करते है तो पाप ही करते है और आत्म-वचना भी करते है । असल मे तो अनासक्ति-पूर्वक हिसा-शस्त्र का उपयोग केवल उन उच्च महापुरुषो के लिए ही सुरक्षित समझना चाहिए, जिनमे कमल की तरह जल मे रहते हुए भी

अलिप्त रहने की शक्ति है । इसलिए साधारण आदमियो का निर्दोष धर्म तो केवल अहिंसात्मक ही होसकता है ।

जो अहिंसक नही बन सका वह आत्म-रक्षा के लिए चाहे हिंसा का प्रयोग करे, पर वहा तुलना हिंसा और अहिंसा के बीच नही है । तुलना है कायरता और आत्म-रक्षा के लिए की गई हिंसा के बीच, और कायरता अवश्य ही आत्म-रक्षा के लिए की गई हिंसा से भी बुरी है । कायरता तम प्रधान है । आत्म-रक्षाके लिए की गई हिंसा रजोगुणी भी होसकती है । पर आत्म-रक्षा के लिए की गई हिंसा भी शुद्ध धर्म नही, अपेक्षाकृत धर्म ही है । शुद्ध धर्म तो अहिंसा ही है ।

स्पष्ट करने के लिए हम कह सकते है कि डकैती के लिए एक डाकू हिंसा करता है, तो वह निकृष्ट पाप करता है । आत्म-रक्षा के लिए, देश या धर्म की रक्षाके लिए की गई हिंसा, यदि न्याय हमारे साथ है तो, उस डकैत द्वारा की गई हिंसा की तुलना मे धर्म है । पर अच्छे हेतु के लिए अनासक्त होकर की गई हिंसा अहिंसा ही है और इसलिए शुद्ध धर्म है । उसी तरह कायरता लेकर धारण की गई अहिंसा, अहिंसा नही पाप है । अशोक वीर था । उसने दिग्विजय के बाद सोचा कि साम्राज्य-स्थापन के लिए की गई हिंसा पाप है। इसलिए उसने क्षमा-धर्म का अनुसरण किया । वह वीर की क्षमा थी, पर उसीका पौत्र अपनी कायरता ढाकने के लिए अशोक की नकल करने लगा। उसमे न क्षमा थी, न शौर्य था। उसमे थी कायरता। इसलिए कवियो ने उसे मोहात्मा के नाम से पुकारा। बलिष्ठ की अहिंसा ही, जो विवेक के साथ है, शुद्ध अहिंसा है । वह एक सत्त्वगुणमयी वृत्ति है । कायर की अहिंसा और डाकू की हिंसा दोनो पाप है । अनासक्त की हिंसा और बलिष्ठद्वारा विवेक से की गई अहिंसा दोनो ही धर्म और अहिंसा है ।

पर धर्म की गति तो सूक्ष्म है। मनुष्य क्रोध के वश या लोभ के वश हिंसकवृत्ति पर आसानी से सयम नही कर पाता। इसलिए गाधीजी ने हिसा को त्याज्य और अहिसा को ग्राह्य माना। गाधीजी स्वय जीवन्मुक्त दशा मे, चाहे वह दशा क्षणिक–जब निर्णय किया जारहा हो उस घडी के लिए ही—क्यो न हो, अहिसात्मक हिसा भी कर सके, जैसे कि बछडे की हिसा, पर साधारण मनुष्य के लिए तो वह कर्म कौए के लिए हस की नकल होगी। इसलिए सबके लिए सरल, सुगम और स्वर्णमय मार्ग अहिसा ही है, ऐसा गाधीजी ने मानकर अहिसा-धर्म की वृद्धि की है। उपवास की प्रवृत्ति भी इसीमे से जन्मी।

हिसा को पूर्णतया त्याज्य मानने के बाद भी ऐसे शस्त्र की जरूरत तो रह ही जाती है, जिससे अधर्म का नाश हो। धर्म को अत्यन्त प्रगति मिलने पर भी अधर्म का नाश होता है, पर अधर्म का नाश होने पर भी तो धर्म की प्रगति का आधार रहता है। दोनो अन्योन्याश्रित है। एक मनुष्य हमसे वादाखिलाफी करता है, जैसा कि राजकोट मे हुआ था। या तो हमपर कोई जबरन एक ऐसी भयकर चीज लादता है कि जो जबर्दस्त प्रतिवाद के बिना नही रोकी जा सकती–जैसा कि हरिजन साम्प्रदायिक निर्णय के सम्बन्ध मे हुआ। तब अहिसा-शस्त्रधारी ऐसी परिस्थिति मे क्या करे? हिसा को तो उसने त्याज्य माना है। इसलिए उसे तो ऐसे ही शस्त्र का प्रयोग करना है, जो जनता की आत्मा को अधर्म के खिलाफ उत्तेजन दे पर जनता का क्रोध न बढाये, जनता मे द्वेष पैदा न होने दे, जो बुराई को छेदन करने के लिए तो लोगो को उकसाये पर साथही बुराई करनेवालो को भय से मुक्त भी करदे। हमारा एक निकटस्थ बुरी लत मे फँसा है, उसको हम कैसे बुरे मार्ग से हटाये? उसे व्याकुल तो करना है, पर हिसा के शस्त्र से नही, प्रेम के द्वारा। ऐसी तमाम

परिस्थितियो के लिए कई अहिसात्मक उपायो का विधान होसकता है। ऐसे विधानो मे उपवास एक रामबाण शस्त्र है, जिसका गाधीजी ने बार-बार प्रयोग किया।

उपवास मे कोई बलात्कार नही होता, यह कौन कहता है? पर बलात्कार होनेमात्र से ही तो हिसा नही होसकती। प्रेम का भी तो बलात्कार होता है। प्रेम के प्रभाव मे हम कभी-कभी अनिच्छापूर्वक भी काम कर लेते है। पर प्रेम के वश अनिच्छा से यदि हम कोई पाप करते है तो उससे बुराई होती है। यदि, अनिच्छापूर्वक ही सही, हम पुण्य करते है, तो समाज को उसका अच्छा फल मिलही जाता है। असल बात तो यह है कि हिसक नेता हमारी मानसिक निर्बलता का लाभ उठाकर अपने हिसक शस्त्रो द्वारा हमे डराकर हमसे पाप कराता है। अहिसक नेता हमारी धर्म-भीरुता को उकसाकर हमे अपने प्रेम से प्रभावान्वित करके हमसे पुण्य कराता है। इसका यह भी फल होता है कि पाप के नीचे हमारी दबी हुई अच्छी प्रवृत्तिया स्वतन्त्र बनती है। इस तरह पहले जो काम प्रेम के बलात्कार से किया, वही हम अब अपनी स्वतन्त्र बुद्धि से करने लगते है। परतन्त्रता को खोकर इस तरह हम स्वतन्त्रता प्राप्त कर लेते है। आदर्श स्थिति तो अवश्य ही वह होगी कि अहिसात्मक नेता को कोई बल-प्रयोग करना ही न पडे, पर ऐसी स्थिति तो सतयुग की ही होसकती है। महापुरुष के जन्म की पहली शर्त ही यह है कि समाज निर्बल है, अधर्म का जोर है, जुल्मो के मारे समाज त्रस्त है, उसे धर्म की प्यास है, जिसे मिटाने के लिए महापुरुष जन्म लेता है। यदि धर्म हो, निर्बलता न हो, तो क्यो तो महापुरुष के आने की जरूरत हो और क्यो उपवास की आवश्यकता हो? क्यो उपदेश और क्यो सुशिक्षण की ही आवश्यकता हो?

पर इसके माने यह भी नही कि हर मनुष्य इस उपवास-रूपी

अहिंसा-शस्त्र का उपयोग करने का पात्र है। अहिंसात्मक हिंसा, जिसका प्रयोग राम, कृष्ण इत्यादि ने और गाधीजी ने बछडे पर किया, उसके लिए तो असाधारण पात्रता की जरूरत होती है, पर हिंसात्मक शस्त्र के लिए भी तालीम की जरूरत पडती है। तलवार, गदका, पटा, निशानेबाजी की कला सीखने की फौजी सिपाहियो को जरूरत होती है और उस तालीम के बाद ही वे अपने शस्त्रो का निपुणता से प्रयोग कर सकते है। इसी तरह उपवास के लिए भी, यदि अहिंसामय उपवास करना है तो, पात्रता की आवश्यकता है। सभी लोग अहिंसात्मक उपवास नही कर सकते। 'धरना' देना एक चीज है, धार्मिक उपवास दूसरी चीज। पर 'धरना' मे धर्म कहाँ, और अहिंसा कहा ? 'धरना' ज्यादातर तो निजी स्वार्थ के लिए होता है। पर कुछ उपवास पाखण्ड और विज्ञापनबाजी के लिए भी लोग करते है। ऐसे उपवासो से कोई विशेष बलात्कार न भी हो, तो भी उनको हम अधार्मिक उपवासो की श्रेणी मे ही गिन सकते है। इसकी चर्चा का यह स्थान नही है। हम तो धार्मिक उपवास की ही चर्चा कर रहे है। यह समझना जरूरी है कि धार्मिक उपवास का जो प्रयोग करना चाहता है उसे पहले पात्रता सम्पादन करनी चाहिए। वह इसलिए कि हर धार्मिक उपवास मे बलात्कार की सम्भावना रहती है। अधार्मिक उपवास मे बलात्कार हो भी, तो लोग उसकी अवहेलना कर जाते है और अवहेलना करना भी चाहिए, क्योकि उसमे बल-प्रयोग के पीछे कोई नीति या धर्म नही होता। इसलिए ऐसे उपवास करनेवालो के सामने झुकना भी अधर्म है। पर धार्मिक उपवास मे चूकि सफल बल-प्रयोग की सम्भावना है, उपवास करनेवाले को ज्यादा सावधानी और ज्यादा पात्रता की आवश्यकता होती है।

इसीलिए राजकोट के उपवास के बाद गाधीजी ने लिखा, "सत्या-

ग्रह के शस्त्रागार मे उपवास एक बलिष्ठ शस्त्र है । पर इसके सभी पात्र नही होते । जिसकी ईश्वर मे सजीव श्रद्धा न हो, वह सत्याग्रही उपवास का अधिकारी नही होसकता । यह कोई नकल करने की चीज नही है । अत्यन्त अन्तर्वेदना हो तभी उपवास करना चाहिए, और इसकी आवश्यकता भी असाधारण मौको पर ही होती है । ऐसा लगता है मानो मै उपवास के लिए अधिक उपयुक्त बन गया हूँ । हालाकि उपवास एक शक्तिशाली शस्त्र है, इसकी मर्यादाएँ अत्यन्त कठोर है, इसलिए जिन्होने इसका शिक्षण नही पाया उनके लिए उपवास कोई मूल्यवान चीज नही है । और जब मै अपने माप-दण्ड से उपवासो को मापता हूँ, तो मुझे लगता है कि अधिकतर उपवास जो लोग करते है वे सत्याग्रह की श्रेणी मे आ ी नही सकते । वे तो महज 'धरना' या भूख-हड़ताल के नाम से ही पुकारे जाने चाहिएँ ।"

"अन्दरूनी आवाज" सुनने की तथा उपवासो की नकल कई लोगो ने अपने स्वार्थ के लिए की है । कुछ लोग पाखण्ड भी करते है । पर कौन-सी अच्छी वस्तु का दुरुपयोग नही हुआ ? किसी चीज का दुरुपयोग होता है केवल इसीलिए वह चीज बुरी नही बन जाती । असल बात तो यह है कि हर चीज मे विवेक की जरूरत है । इसलिए गाधीजी ने यद्यपि आकाशवाणी भी सुनी और कई उपवास भी किये, तो भी प्राय अपने लेखो मे इन दोनो चीजो के सम्बन्ध मे वह सावधानी से काम लेने की लोगो को सलाह देते है । मैने देखा है कि वह प्राय "अन्तर्नाद" की बात करनेवाले को शक की निगाह से देखते है और उपवास करनेवालो को प्राय बिना अपवाद के निवारण करते है । और यह सही भी है ।

१२

गाधीजी का ध्यान करते ही हमारे सामने सत्याग्रह का चित्र उपस्थित होता है। जैसे दूध के बिना हम गाय की कल्पना नही कर सकते, वैसे ही सत्याग्रह के बिना गाधीजी की कल्पना नही होती। गाधीजी तो सत्याग्रह का अर्थ अत्यन्त व्यापक करते है। वह इसकी व्याख्या सविनय कानून-भग तक ही सीमित नही करते। सविनय कानून-भग सत्याग्रह का एक अगमात्र है, पर हरिजन-कार्य भी उनकी दृष्टि से उतना ही सत्याग्रह है जितना कि सविनय कानून-भग। चर्खा चलाना भी सत्याग्रह है। सत्य, ब्रह्मचर्य, ये सारे सत्याग्रह के अग हैं।

सत्याग्रह, अर्थात् सत्य का आग्रह। इसी चित्र को सामने रखकर सत्याग्रह-आश्रम के वासियो को सत्य, अहिसा, ब्रह्मचर्य, अस्वाद, अपरिग्रह, अभयत्व, अस्पृश्यता-निवारण, कायिक परिश्रम, सर्व-धर्म-समभाव, नम्रता, स्वदेशी, इन एकादश व्रतो का पालन करना पडता है। इसका अर्थ तो यह हुआ कि ये एकादश व्रत ही सत्याग्रह के अंग है। सविनय कानून-भग—नम्रता, सत्य, अहिसा और अभयत्व के अन्तर्गत प्रकारान्तर से आजाता है। इसे कोई स्वतत्र स्थान नही है। फिर भी साधारण जनता तो यही समझती है कि सत्याग्रह के माने ही है सविनय कानून-भग। "सविनय"

का महत्त्व भी कम ही लोग महसूस करते हैं। सत्याग्रह का अर्थ है कानून-भग, साधारण जनता तो इतना ही जानती है। आश्चर्य है कि इन चालीस सालो के निरन्तर प्रयत्न के बाद भी यह गलत-फहमी चली ही जारही है। आमतौर से सभी तरह के अवैध विरोध का नाम आजकल सत्याग्रह पड़ गया है। जो लोग कानून-भग मे शुद्ध सत्याग्रह का आचरण नही करते, वे कानून-भग को सत्याग्रह का नाम न देकर यदि महज "नि शस्त्र प्रतिकार" कहे, तो सत्याग्रह की ज्यादा सेवा हो।

गाधीजी मे यह शुद्ध सत्याग्रह बचपन से ही रहा है, पर सविनय आज्ञा-भग का स्थूल दर्शन सर्वप्रथम अफ्रीका मे होता है। अफ्रीका पहुँचते ही इन्हे प्रिटोरिया जाना था, इसलिए डरबन से प्रिटोरिया के लिए रवाना हुए। फर्स्ट क्लास का टिकट लेकर गाडी मे आराम से जाकर बैठ गये। रात को नौ बजे एक दूसरा गोरा मुसाफिर उसी डिब्बे मे आया। गाधीजी को उसने एडी से चोटी तक देखा और फिर बाहर जाकर एक रेलवे अफसर को लेकर वापस लौटा। अफसर ने आते ही कहा

"उठो, तुम यहा नही बैठ सकते, तुम्हे दूसरे नीचे दर्जे के डिब्बे मे जाना होगा।"

'पर मेरे पास तो फर्स्ट का टिकट है।"

"रहने दो बहस को, उठो, चलो दूसरे डिब्बे मे।"

"मै साफ कहे देता हूँ कि म इस डिब्बे से ऐसे नही निकलनेवाला हूँ। मेरे पास टिकट है और अपनी यात्रा इसी डिब्बे मे समाप्त करना चाहता हूँ।"

"तुम सीधी तरह नही मानोगे। मै पुलिस को बुलाता हूँ।"

पुलिस कॉन्सटेबल आया। उसने गाधीजी को हाथ पकड़कर बाहर निकाल दिया और इनका सामान भी बाहर पटक दिया।

इन्होने दूसरे डिब्बे मे जाना स्वीकार नही किया और गाडी इन्हे बिना लिये ही छूट गई। यह मुसाफिरखाने मे चुपचाप जा बैठे। सामान भी रेलवालो के पास ही रहा। रात को भयकर जाडा पडता था, उसके मारे यह ठिठुरे जाते थे। "मै अपने कर्त्तव्य का विचार करने लगा। क्या मुझे अपने हक-हकूको के लिए लडना चाहिए ? या अपमान को सहन करके भी प्रिटोरिया जाना चाहिए और मुकदमा समाप्त होने पर ही वहासे लौटना चाहिए ? अपना कर्त्तव्य पूरा किये बिना भारत लौटना मेरी नामर्दी होगी। यह काले-गोरे के भेदभाव का रोग तो गहरा था। मेरा अपमान तो रोग का एक लक्षणमात्र था। मुझे तो रोग को जड-मूल से खोदकर नष्ट करना चाहिए और उस प्रयत्न मे जो भी कष्ट आये उसे सहन करना चाहिए। यह निश्चय करके मै दूसरी गाडी से प्रिटोरिया के लिए रवाना हुआ।"

डरबन से प्रिटोरिया पहुँचने के लिए रेल से चार्ल्सटाउन पहुँचना था। वहासे घोडा-गाडी की डाक थी, उसमे सफर करना और जोहॉन्सबर्ग पहुँचकर वहासे फिर रेल पकडकर प्रिटोरिया पहुँचना था। गाधीजी दूसरी गाडी पकडकर चार्ल्सटाउन पहुँचे। पर अब यहासे फिर घोडागाडी की डाक मे यात्रा करनी थी। रेल के टिकट के साथ ही उन्होने घोडागाडी का टिकट भी खरीद लिया था। घोडा-गाडी के एजेण्ट ने जब देखा कि यह तो सावला आदमी है, तो इनसे कहा कि तुम्हारा टिकट तो रद्द होचुका है। गाधीजी ने उसे उपयुक्त उत्तर दिया तो वह चुप होगया, पर मूल मे जो कठिनाई काले-गोरे की थी वह कैसे दूर होसकती थी ? गोरे यात्री तो सब गाडी के भीतर बैठे थे। इन्हे गोरो के साथ तो बिठाया नही जासकता था, इसलिए बग्घी का सचालक जो कोचमैन के बगल मे बैठा करता था वह तो स्वय भीतर बैठ गया और इन्हे कोचमैन के

बगल मे बिठाया ।

यह अपमान था, पर गाधीजी इस जहर की घूट को पी गये । गाडी चलती रही । कुछ घण्टे बीत गये । अब गाडी के सचालक को तम्बाकू पीने की इच्छा हुई, इसलिए उसने बाहर बैठने की ठानी । उसकी जगह तो गाधीजी बैठे थे और गाधीजी को भीतर बैठाया जा नही सकता था । इस समस्या को भी उसने गाधीजी का और अपमान करके ही हल करना निश्चय किया । कोचमैन की दूसरी तरफ एक गन्दी-सी जगह बची थी, उसकी तरफ लक्ष्य करके गाधीजी से कहा, "अब तू यहा बैठ, मुझे तम्बाकू पीना है ।" यह अपमान असह्य था । गाधीजी ने कहा, "मेरा हक तो भीतर बैठने का था । तुम्हारे कहने से मै यहा बैठा । अब तुम्हे तम्बाकू पीना है, इसलिए मेरी जगह भी तुम्हे चाहिए ! मै भीतर तो बैठ सकता हूँ, पर और दूसरी जगह के लिए मै अपना स्थान खाली नही कर सकता ।" बस, इतना कहना था कि तपाक से उसने गाधीजी को तमाचा मारा । इनका हाथ पकडकर इन्हे नीचे गिराने की कोशिश करने लगा । पर यह भी गाडी के डण्डे से चिपटकर अपने स्थान पर जमे रहे ।

दूसरे यात्री यह तमाशा चुपचाप देखते थे । गाडी का सचालक इन्हे पीट रहा था, गालिया दे रहा था, खीच रहा था और यह गाडी से चिपके हुए थे, पर शान्त थे । वह बलिष्ठ था, यह दुर्बल थे । यात्रियो को दया आई । एक ने कहा, "भाई, जाने भी दो, क्यों गरीब को मारते हो ?" उसका क्रोध शान्त तो नही हुआ, पर कुछ शर्मा गया । इन्हे जहा-का-तहा बैठने दिया । गाड़ी अपने मुकाम पर पहुँची । वहासे फिर रेल पकडी, पर फिर वही मुसीबत । गार्ड ने पहले इनसे टिकट मागा, फिर बोला, "उठो, थर्ड मे जाओ ।" फिर झझट शुरू हुई, पर एक अग्रेज यात्री ने बीच मे पड़कर मामला शान्त

किया और यह सही-सलामत प्रिटोरिया पहुँचे ।

सविनय आज्ञा-भग का गाधीजी के लिए यह पहला पाठ था। उनकी इस वृत्ति का प्रथम दर्शन शायद यहीसे होता है। ऐसे मौके पर ऐसा करना चाहिए, यह शायद उन्होने निश्चय नही कर रक्खा था। पर ऐन मौके पर अचानक विवेक-बुद्धि आज्ञा-भग करने के लिए उभारती है और वह सविनय आज्ञा-भग करते है। मार खाते है, पर मारनेवाले पर कोई क्रोध नही है। न इन्हे उसपर मुकदमा चलानेकी रुचि होती है। इस तरह पहले पाठ का प्रयोग सफलता-पूर्वक समाप्त होता है

यह जो छोटी-सी चीज जाग्रत हुई, वह फिर बृहत आकार धारण कर लेती है। पर यह कोरा आज्ञा-भग नही है। "सविनय" है, जो कि सत्याग्रह की एक प्रधान शर्त है। सत्याग्रह उनके लिए कोई राजनैतिक शस्त्र नही है। आदि से अन्ततक उनके लिए यह धार्मिक शस्त्र है,जिसका उपयोग वह राजनीति मे, घर मे, हर समय, हर हालत मे करते है।

बा को एक मर्तबा बीमारी होती है। चिकित्सा से लाभ नही हुआ, तो गाधीजी ने अपनी जल-चिकित्सा और प्राकृतिक चिकित्सा का उपयोग शुरू किया। इन्हे लगा कि बा को नमक और दाल का त्याग करना चाहिए, पर बा को यह राय पसन्द न आई। एक रोज बहस करते-करते बा ने कहा, "यदि आपको भी दाल और नमक छोडने को कहा जाये, तो न छोड सकेगे।" "तुम्हारी यह भूल है। यदि मै बीमार पडू और मुझे डॉक्टर इन चीजो को छोडने के लिए कहे तो मै अवश्य छोड दू। पर लो, मै तो एक साल के लिए दाल और नमक दोनो छोड देता हूँ, तुम छोडो या न छोडो।" बा बेचारी घबरा गईं, फिजल को आफत मोल ली। "मै दाल और नमक छोडती हूँ,पर आप न छोडे।" पर गाधीजी ने तो बातो-ही-बातो मे

गोखले के स्वागत में—दक्षिण अफ्रीका
(सन् १९१२)

दक्षिण अफ्रीका से बिदाई
(सन १९१४)

प्रतिज्ञा लेली थी। अब उससे टलनेवाले थोडे ही थे। बा ने भी सतोष किया। इस घटना का जिक्र करते हुए गाधीजी कहते है, "मै मानता हू कि मेरा यह सत्याग्रह मेरे जीवन की स्मृतियो मे सबसे ज्यादा सुखद है।"

ये दो घटनाए गाधीजी की शुद्ध सत्याग्रह की नीति की रूप-रेखा हमारे सामने रखती है। यद्यपि एक घटना एक अनजान के साथ घटती है, जो इनके प्रति क्रुद्ध था, और दूसरी घटती है एक निकटस्थ के साथ, जो हठ के कारण अपने प्रिय भोजन को स्वास्थ्य की अपेक्षा ज्यादा महत्व देती थी, पर दोनो मे भावना एक ही काम करती है। दोनो मे हृदय-परिवर्तन की इच्छा है। दोनो मे स्वेच्छा-पूर्वक कष्ट-सहन करने की नीति है। दोनो मे क्रोध या आवेश का अभाव है। इन दो घटनाओ का ध्यानपूर्वक अध्ययन करने के बाद हम देख सकेगे कि इनके बाद के बडे-से-बडे राजनैतिक सग्रामो मे वही भावना, वही प्रवृत्ति रही है, जो इन दो घटनाओ मे हमे मिलती है—अक्रोध से क्रोध को जीतना, दूसरो की उत्तम भावना को स्वय कष्ट सहकर जाग्रत करना। सत्याग्रह के शस्त्र का इन्होने जीवन की हर क्रिया मे उपयोग किया है। पर इस शस्त्र को अधिक ख्याति राजनीति मे मिली है, इसलिए राजनीति के कुछ कार्यो का सिहाव-लोकन सत्याग्रह की नीति को ठीक-ठीक समझने मे हमारे लिए ज्यादा सहायक हो सकता है।

गाधीजी ने सरकार के साथ कई लडाइया लडी और कई मर्तबा सरकार के ससर्ग मे आये। इन सभी लडाइयो मे या ससर्गो मे सत्याग्रह की झलक मिलती है, पर मेरा खयाल है कि १९१८-१८ का यूरोपीय महाभारत, और उसी जमाने मे किया गया चम्पा-रन-सत्याग्रह और वर्तमान यूरोपीय महाभारत, ये तीन प्रकरण इनके स्वदेश लौटने के बाद ऐसे हुए है कि जिनमे हमे शुद्ध सत्याग्रह का

दिग्दर्शन होता है। अफ्रीका का सत्याग्रह-सचालन तो इनके अखड आधिपत्य मे हुआ था। इसलिए उस सत्याग्रह मे शुद्ध सत्याग्रह की नीति का ही अनुसरण हुआ। पर १९२०-२२ और १९३०-३२ की लडाइया विस्तृत थी, और अधिनायकी इनकी होते हुए भी अनेकोतक यह सत्याग्रह फैल गया था। उसका नतीजा यह हुआ कि सत्याग्रह सर्वांश मे सत्याग्रह न रहा। इन लडाइयो मे सत्याग्रह के साथ-साथ दुराग्रह भी चला।

यह सही है कि लोग शरीर से कोई हिसा नही करते थे। पर जबान और दिल मे जहर की कमी न थी।

इटली और तुर्की के बीच कई साल पहले जब युद्ध छिडा तब अकबर साहब ने लिखा थ।

न सीने में जोर है न बाजू में बल
कि टरकी के दुश्मन से जाकर लड़ें,
तहेदिल से हम कोसते है मगर
कि इटली की तोपो में कीड़े पड़ें।

ऐसे सैकडो सत्याग्रही थे, जिनके बारे मे थोडे-से हेरफेर के साथ यह शेर कहा जासकता था। "**इग्लैड के फेफड़ों में कीड़े पड़ें**" ऐसी मिन्नत मनानेवालो की भी क्या कमी थी! पर पिछले यूरोपीय महाभारत और वर्तमान यरोपीय युद्ध मे (युद्ध तो जारी ही है) इनकी जो नीति रही वह शुद्ध गाधीवाद का प्रदर्शन हुआ है।

१३

पिछला यूरोपीय युद्ध और वर्तमान यूरोपीय युद्ध ये ऐसी बड़ी घटनाए है, जिन्होने ससार के हर पहलू को प्रभावावित किया है और भविष्य मे करेगी। असल मे तो वर्तमान युद्ध के जन्म के पीछे छिपा हुआ कारण तो पिछला युद्ध ही है और ये दोनो युद्ध ससार की बृहत बीमारी के चिन्हमात्र है। बीमारी तो कुछ दूसरी ही है। मालूम होता है कि जैसे पृथ्वी के गर्भ मे तूफान उठता है उसे हम देख नही पाते और भूकम्प होने पर ही हमे उसकी खबर होती है, वैसे ही मानव-समाज मे भी जो आग भीतर-ही भीतर वर्षों से दहक रही थी उसे हमने युद्ध होने पर ही सम्यक प्रकार से देखा है। पिछला युद्ध एक तरह का भूकम्प था। प्रेसिडेट विलसन ने उस भूकम्प का निदान किया। बरतानिया के प्रधानमत्री लायड जार्ज को भी स्थिति स्पष्ट दिखाई दी। पर दोनो की मानसिक निर्बलता ने इन्हे लाचार बना दिया। विजय के मद मे ये लोग रोग को भूल गये। रोग की चिकित्सा न करके लक्षणो को दबाने की कोशिश की गई। नतीजा यह हुआ कि एक जबर्दस्त विस्फोटक मानव-समाज के अग मे फूट निकला है, जिसके दर्द के मारे सारी सृष्टि व्याकुलता से कराह रही है।

इन दोनो महाभारतो मे गाधीजी ने क्या किया, यह एक अध्य-

यन करनेलायक चीज है। गाधीजी की राजनीति में धर्मनीति प्रधान होती है। यूरोपीय महाभारतो से बढकर दूसरा राजनीति का प्रकरण इस सदी मे और कोई नही हुआ। इन दोनो राजनैतिक प्रकरणो मे गाधीजी ने राजनीति और धर्म का कैसे समन्वय किया,यह एक समालोच्य विषय होसकता है। पर हर हालत मे वह गांधीजी के व्यक्तित्व पर एक तेज प्रकाश डालता है। गाधीजी की प्रथम यरोपीय युद्ध के बाद की नीति मे इतना फर्क अवश्य पडा है कि इग्लैंड के राज्यशासन मे जो इनका अटूट विश्वास था वह मिट गया। पर उसके मिटने से पहले इन्हे कई आघात लगे, जिन्होने उस विश्वास की सारी बुनियाद को तहस-नहस कर दिया।

"ब्रिटिश राज्य-शासन मे मेरी जितनी श्रद्धा थी उससे बढकर किसीकी हो ही नही सकती थी। मै अब सोचता हू, तो मुझे लगता है कि इस राजभक्ति की जड मे तो मेरी सत्यप्रियता ही थी। मै ब्रिटिश शासन के दुर्गुणो से अनभिज्ञ न था, पर मुझे उस समय ऐसा लगता था कि गुण-अवगुणो के जमा-खर्च के बाद ब्रिटिश शासन का जमा-पक्ष ही प्रबल रहता था। अफ्रीका मे मैंने जो रग-भेद पाया वह मुझे ब्रिटिश स्वभाव के लिए अस्वाभाविक चीज लगती थी। मैंने माना था कि वह स्थानीय थी और अस्थायी थी, इसलिए राज-कुटुम्ब के प्रति आदर-प्रदर्शन करने मे मै हर अग्रेज से बाजी मारता था। पर मैंने इस राजभक्ति से कभी स्वार्थ नही साधा। मैंने तो ऐसा माना कि राजभक्तिद्वारा मै एक ऋणमात्र अदा कर रहा हू।"

ये इनके प्राचीन भाव थे। फिर जब इन्होने सरकार के लिए "शैतानी" शब्द की रचना की, तबतक विचारो मे परिवर्तन होचुका था। पर सरकार 'शैतानी' होगई तो भी कार्य-पद्धति मे कोई परि-वर्तन न हुआ, क्योकि इन्हे शैतान से भी तो दुश्मनी नही है। एक बार मैंने कहा, "अमुक मनुष्य बडा दुष्ट है। आप क्यो उसे अपने

पास रखते हैं?" गांधीजी ने उत्तर में कहा, "मैं तो चाहता हू कि शैतान भी मेरे पास बैठे, पर वह मेरे पास रहना पसद ही नहीं करता।" इसलिए राजभक्ति तो काफूर हुई, पर सल्तनत के हृदय-परिवर्तन की चाह न मिटी। जिस स्वराज्य की प्राप्ति "ऋण अदा करके" होनेवाली थी उसकी प्राप्ति अब "हृदय-परिवर्तन" द्वारा होने की चाह जगी। पर स्वय कष्ट-सहन करने की नीति और अन्य तत्सम चीजें ज्यों-की-त्यो है।

४ अगस्त १९१४ को लडाई का ऐलान हुआ। ६ अगस्त को गाधीजी ने दक्षिण अफ्रीका से इग्लैड मे पदार्पण किया। लन्दन पहुचते ही पहला ध्यान इनका अपने कर्तव्य की ओर गया। कुछ भारतीय मित्र उस समय इग्लेड मे थे। उनकी एक छोटी-सी सभा बुलाई और उनके सामने कर्तव्य-सम्बन्धी अपने विचार प्रकट किये। इन्हे लगा कि जो हिंदुस्तानी भाई इग्लैड मे रहते थे, उन्हे सहायता देकर अपना कर्त्तव्य-पालन करना चाहिए। अग्रेज विद्यार्थी फौज मे भरती होरहे है। भारतीय विद्यार्थियो को भी ऐसा ही करना चाहिए, यह इनकी राय थी। "पर दोनो की स्थितियो मे क्या तुलना है? अंग्रेज मालिक है, हम गुलाम है। गुलाम क्यो सहयोग दे? जो गुलाम स्वतत्र होना चाहता है उसके लिए तो स्वामी का संकट ही अवसर है।" पर यह दलील उस समय गाधीजी को नही हिला सकी। आज भी ऐसी दलील का उनपर कोई असर नही होता।

"मुझे अग्रेज और हिदुस्तानी दोनो की हैसियत के भेद का सपूर्ण ज्ञान था, पर मैने यह नही माना था कि हम गुलामो की हैसियत मे पहुंच गये थे। मुझे लगता था कि यह सारा दोष ब्रिटिश शासन का नही, पर व्यक्तिगत अफसरो का था, और मेरा विश्वास था कि यह परिवर्तन प्रेम से ही सपादन किया जासकता था। यदि हमें अपनी अवस्था का सुधार वाछनीय था, तो हमारा फर्ज था कि हम

अग्रेजो की उनके सकट मे मदद करे और उनका हृदय पलटाये ।"

पर विरोधी मित्रो की ब्रिटिश सल्तनत मे वह श्रद्धा नही थी जो गाधीजी की थी, इसलिए वे सहयोग देने को उत्सुक नही थे। आज वह श्रद्धा गाधीजी की भी नही रही, इसलिए गाधीजी के सहयोग का अभाव है। पर "अग्रेजो का सकट हमारा अवसर है" इस दलील को आज भी गाधीजी स्वीकार नही करते। मित्रो ने उस समय कहा, "इस समय हमे अपनी मागे पेश करनी चाहिए।" पर गाधीजी ने कहा, "यह ज्यादा सुदर होगा और दूरदर्शिता भी होगी कि हम अपनी मागे लडाई के बाद पेश करे।" अबकी बार मागे पेश की गई है, पर तो भी अग्रेजो के सकट की चिता से गाधीजी मुक्त नही हैं। वह उनके लिए किसी तरह की परेशानी पैदा करना नही चाहते। प्रथम और द्वितीय यूरोपीय युद्धो के प्रति इनकी मनोवृत्ति मे जो सूक्ष्म सादृश्य बराबर नजर आता है, वह अध्ययन करनेलायक है।

अत मे लन्दन मे वालटियरो की एक टुकडी खडी की गई। उस समय के भारत-मत्री लार्ड क्रू थे। उन्होने बडी अगर-मगर के बाद उस टुकडी की सेवा स्वीकार करने की सम्मति दी। अग्रेजो मे तब भी हमारे प्रति अविश्वास था, जो आजतक ज्यो-का-त्यो बना हुआ है।

गाधीजी के साथियो ने जब दक्षिण अफ्रीका मे सुना कि गाधीजी ने स्वयसेवको की एक टुकडी लडाई मे सहायता देने के लिए खडी की है, तब उन्हे अत्यन्त आश्चर्य हुआ। एक ओर अहिसा की उपासना और दूसरी ओर लडाई मे शरीक होना! गाधीजी की इन दो परस्पर-विरुद्ध मनोवृत्तियो ने इनके साथियो को उलझन मे डाल दिया।

युद्ध की नैतिकता मे इन्हे कतई विश्वास न था। "यदि हम अपने घातक के प्रति भी क्षमा का पालन करते है, तो फिर ऐसे युद्ध मे जिसमे

हमे यह पूरा पता भी न हो कि धर्म किसकी ओर है, कैसे किसीका पक्ष लेकर लड सकते है ?"

पर इसका उत्तर गाधीजी यो देते हैं

"मुझे यह अच्छी तरह ज्ञात था कि युद्ध और अहिसा का कभी मेल नही होसकता। पर धर्म क्या है और अधर्म क्या है, इसका निर्णय इतना सरल नही होता। सत्य के उपासक को कभी-कभी अधकार मे भी भटकना पडता है। अहिसा एक विशाल धर्म है। **"जीवो जीवस्य जीवनम्"** इस वाक्य का अत्यत गूढ अर्थ है। मनुष्य एक क्षण भी जाने-अनजाने हिसा किये बिना जीवित नही रहता। जिन्दा रहने की क्रियामात्र—खाना, पीना, डोलना—जीव का हनन करती है, चाहे वह जीव अणु जितना ही छोटा क्यो न हो। इसलिए जीवन स्वय ही हिसा है। अहिसा का पूजक ऐसी हालत मे अपने धर्म का यथार्थ पालन उसी दशा मे कर सकता है, जबकि उसके तमाम कर्मों का एक ही स्रोत हो। वह स्रोत है दया। अहिसावादी भरसक जीवो की रक्षा करने की कोशिश करता है और इस तरह वह हिंसा के पापमय फदे से बचता रहता है। उसका कर्तव्य होता है कि वह इद्रिय-निग्रह और दया-धर्म की वृद्धि करता रहे। पर मनुष्य हिंसा से पूर्णत मुक्त कभी हो ही नही सकता। आत्मा एक है और सर्वत्र व्याप्त है। इसलिए एक मनुष्य की बुराई का असर प्रकारातर से सभीपर होता है। इस न्याय से भी मनुष्य हिंसा से सर्वथा मुक्त नही होसकता। दूसरी बात यह है कि जबतक समाज का वह एक अग है, तबतक समाज की हस्ती के लिए भी जो हिसा होती है उसका वह भागीदार तो है ही। जब दो राष्ट्रो मे युद्ध होता है तब अहिसा के उपासक का प्रथम धर्म तो है युद्ध को बद कराना। पर जो इसके लिए अयोग्य है, जो युद्ध रोकने की शक्ति भी नही रखता, वह चाहे युद्ध में शरीक तो हो, पर साथ ही राष्ट्रो को, समाज

को और अपनेआपको युद्ध से मुक्त करने का प्रयत्न भी निरतर करता रहे ।"

गाधीजी के तबके और आज के विचारो मे कोई फर्क नही है, चाहे कार्यक्रम की बाहरी सूरत कुछ भिन्न मालूम देती हो । "अहिंसा का पूजक अपने धर्म का पालन पूर्णतया तभी कर सकता है जबकि उसके कर्ममात्र का स्रोत केवल दया ही हो ।" यह वाक्य उनके तमाम निर्णयो के लिए नाव के पतवार का-सा काम देता है। पर उस युद्ध मे शरीक होने मे एक और दलील थी —

"मै अपने स्वदेश की स्थिति ब्रिटिश सल्तनत की सहायता से सुधारने की आशा करता था। मै इग्लैड मे ब्रिटिश नाविक सैन्य की सहायता से सुरक्षित था। चूकि मै इग्लैड की छत्रछाया मे सुरक्षित था, एक प्रकार से मै इग्लैंड की हिंसा मे भी शरीक था। मै इग्लैड से अपना नाता तोडने को यदि तैयार न था, तो इस हालत मे मेरे लिए तीन ही मार्ग खुले थे या तो युद्ध के विरुद्ध बगावत करना और सत्याग्रह-धर्म के अनुसार जबतक इग्लैड अपनी नीति को न त्याग दे तबतक इग्लैड की शहशाहत से असहयोग करना, अथवा कानून-भग करके जेल जाना, अथवा ब्रिटिश राष्ट्र को जग मे सहायता देना और ऐसा करते-करते युद्ध की हिसा के प्रतिकार की शक्ति प्राप्त करना। चूकि मै प्रथम दो मार्गों के अनुसरण के लिए अपनेआपको अयोग्य पाता था, मैने अतिम मार्ग ग्रहण किया।"

यह तर्क कुछ लूला-सा लगता है, पर गाधीजी किस तरह निर्णय पहले करते है और दलील पीछे उपजाते है, इसकी चर्चा आगे करेगे। पर तर्क अकाटच न भी हो तो न सही, गाधीजी की आत्मा को जिस समय जो सत्य जचा उसीके पीछे वह चले है। उनके तर्कों मे जान-बूझ-कर आत्मवचना नही होती। असल बात तो यह थी की उनकी ब्रिटिश शासन-पद्धति मे बेहद श्रद्धा थी। दक्षिण अफ्रीका मे उनके

साथ इतना दुर्व्यवहार हुआ, तो भी उनका धीरज और उनकी श्रद्धा अडिग रही। बोअर-लडाई मे और जूलू-बलवे मे यद्यपि उनकी सहानुभूति बोअरो और जूलू लोगो की तरफ थी, तो भी अग्रेजो को सहायता देना ही उन्होने अपना धर्म माना। इस सहायता के बाद भारतीयो की स्थिति समझने के लिए उपनिवेश-मत्री जोसेफ चेम्बर-लेन जब अफ्रीका आये और हिंदुस्तानियो की प्रतिनिधि-मडली उनसे मिलने के लिए प्रबध करने लगी, तो उन्होने साफ कहला दिया कि "और सब आये, पर गाधी को नेता बनाकर न लाया जाये। उनसे एक बार मुलाकात होचुकी है, अब बार-बार उनसे नही मिलना है।"

अग्रेजो की यह पुरानी वृत्ति आजतक ज्यो-की-त्यो जिन्दा है। गोलमेज परिषद हुई तब भारतीय प्रतिनिधिगण भारतीयो द्वारा चुने हुए नुमाइदे नही थे, पर सरकार द्वारा नियुक्त किये हुए थे। सरकार ने हमे शाति दी, रक्षा दी, परतत्रता दी, तो फिर नुमाइदे भी वही नियुक्त क्यो न करे? आज भी काग्रेस और ब्रिटिश सल्तनत मे इसी सिद्धात पर बहस चालू है। सरकार कहती है, लडाई के बाद तमाम जातियो, समाजो और फिरको के नुमाइदो से हिंदुस्तान के नये विधान के सबध मे सलाह-मशवरा करेगे। कौन जातिया है, कौनसे समाज है और कौनसे फिरके है, इसका निर्णय भी सरकार ही करेगी। प्रातीय सरकारे चुने हुए नुमाइदो द्वारा सचालित होरही थी। पर वे नुमाइदे अपने घर रहे। सर-कार तो अपनी आवश्यकता देखकर नये नुमाइदे पैदा करती है। गाधी दक्षिण अफ्रीका मे हिंदुस्तानियो का प्रतिनिधि बनकर चेम्बरलेन से मिले, यह अनहोनी बात कैसे बर्दाश्त होसकती है, इसलिए गाधी नही मिल सकता।

पर गाधीजी पर इसका भी कोई बुरा असर नही हुआ। जब यूरोपीय युद्ध शुरू हुआ, तब फिर सहायता दी। बाद मे पजाब मे

खून-खराबी हुई, रौलट कानून बना, जलियावाला बाग आया। गाधीजी की श्रद्धा फिर भी जीवित रही। नये सुधार आते है, तब गाधीजी उन्हे स्वीकार करने के पक्ष मे जोर लगाते हैं। ऐसी गाधीजी की श्रद्धा और अहिसा है—

जो तोको कांटा बुवे, ताहि बोय तू फूल;

तोको फूल के फूल हैं, वाको हैं तिरसूल।

गाधीजी की यह मनोवृत्ति एकधार, अखडित, शुरू से आखिर-तक जारी है। हाला कि ब्रिटिश राज्य की नेकनीयती मे उनकी श्रद्धा अब उठ गई है, फिर भी व्यवहार वही प्रेम और अहिसा का है। गाधीजी अब भी "फूल बोने" मे मस्त है।

यह उनकी ब्रिटिश शासन की नेकनीयती मे श्रद्धा ही थी, जिसके कारण उन्होने गत युद्ध मे सहायता दी। उनकी दलील तो निर्णय के बाद बनती है, इसलिए पगु-जैसी लगती है। पर चूकि लडाई में सरकार को सहायता देना यह उस समय गाधीजी को अपना धर्म लगा, उन्होने मर्यादा के भीतर सहायता देने का निश्चय किया। बोअर-लडाई मे और जूलू-विप्लव मे गाधीजी की सहानुभूति बोअरो और जूलू लोगो के साथ होते हुए भी उन्होने माना कि अग्रेजो को सहायता देना उनका धर्म था, इसलिए सहायता अग्रेजो को दी। ऐसी असगति कोई आश्चर्य की बात नही है। एक कर्म जो एक समय धर्म होता है, वही कर्म अन्य समय मे अधर्म होसकता है। इसीलिए यह कहा है कि धर्म की गति गहन है।

ऐसी ही एक असगति की कहानी हमे महाभारत मे मिलती है। महाभारत-युद्ध की जब सब तैयारी होजाती है और योद्धा आमने-सामने आकर खडे होते है, तब युधिष्ठिर भीष्म पितामह के पास जाकर प्रणाम करते है और युद्ध के लिए उनकी आज्ञा मागते हैं। युधिष्ठिर की इस विनय मे भीष्म अत्यत प्रसन्न होते है और

कहते हैं, "पुत्र, तू युद्ध कर और जय प्राप्त कर। मैं तुझपर प्रसन्न हूं। और भी जो कुछ चाहता हो वह कह, तेरी पराजय नही होगी।" इतनी आशीष दी, पर युद्ध तो भीष्म पितामह को दुर्योधन की ओर से ही करना था, इसलिए असगति को समझाते हुए कहा, "मैंने कौरवो का अन्न खाया है इसलिए युद्ध तो उन्हीकी ओर से करूगा, बाकी तो जो तुम्हे चाहिए वह अवश्य मागो।"

'अर्थस्य पुरुषो दासो दासस्त्वर्थो न कस्यचित्।
इति सत्य महाराज बद्धोऽस्म्यर्थेन कौरवः॥

"हे महाराज! सच तो यह है कि पुरुष अर्थ का दास है और अर्थ किसीका दास नही, इसलिए मै कौरवो से बधा पडा हू।"

भीष्म पितामह के लिए तो कैसा अर्थ और कैसा बधन? पर बात तो यह है कि यहा अर्थ से भी मतलब धर्म से ही है। भीष्मजी का कहना था कि मै धर्म से बधा हू, इसलिए युद्ध तो मै कौरवो की तरफ से ही करूगा, बाकी मेरा पक्ष तो तुम्हारी तरफ है।

हजारो साल के बाद एक दूसरा महाभारत यूरोप मे होता है। गाधीजी कहते है, "मै युद्ध के पक्ष मे नही, पर चूकि इग्लैड की सुरक्षा में पला हू, इसलिए मेरा धर्म यह है कि मै इग्लैड की सहायता करू।" हजारो साल के बाद इतिहास की पुनरावृत्ति का यह एक अनुपम उदाहरण है।

गत यूरोपीय युद्ध चार साल तक चला और उसमे मित्रराष्ट्रो को जान लडाकर युद्ध करना पडा। कई उतार-चढाव आये। भारतवर्ष मे गाधीजी ने जिस खालिस मन से इग्लैड को सहायता दी उतनी सरलता से शायद ही किसीने दी हो। कई नेता तो विपक्ष मे भी थे, पर ज्यादातर तटस्थ थे। लोकभावना मे भी जब और तब में कितना सादृश्य है, यह देखनेलायक चीज है।

लडाई के जमाने मे वाइसराय चेम्सफोर्ड ने तमाम नेताओ

और रईस लोगो की एक युद्ध-सभा बुलाई । गाधीजी को भी निमत्रण मिला । कुछ हिचकिचाहट और अगर-मगर के साथ गाधीजी ने सभा मे शरीक होने का निश्चय किया । सभा मे जो प्रस्ताव था उसके समर्थन मे गाधीजी ने हिन्दी मे केवल इतना ही कहा, "मै इसकी ताईद करता हू ।" पर जो उन्हे कहना था, वह पत्र द्वारा वाइसराय को लिखा । वह पत्र भी देखनेलायक है :—

"मै मानता हू कि इस भयकर घडी मे ब्रिटिश राष्ट्र को—जिसके कि अत्यत निकटभविष्य मे हम अन्य उपनिवेशो की तरह साझेदार बनने की आशा लिये बैठे है—हमे प्रसन्नतापूर्वक और स्पष्ट सहायता देनी चाहिए । पर यह भी सत्य है कि हमारी इस मशा के पीछे यह आशा है कि ऐसा करने से हम अपने ध्येय को शीघ्र ही पहुच जायेगे । कर्तव्य का पालन करने से अधिकार अपनेआप ही मिल जाते है, और इसलिए लोगो को विश्वास है कि जिस सुधार की चर्चा आपने की है उसमे काग्रेस-लीग की योजना को आप पूरी तरह से स्वीकार करेगे । कई नेताओ का ऐसा विश्वास है और इसी विश्वास ने सरकार को पूर्ण सहायता देने पर नेताओ को आमादा किया है ।"

गाधीजी के पत्र का यह एक अश है । कितना निर्मल विश्वास ! उस समय हिन्दू-मुस्लिम ऐक्य था । आज की तरह साम्प्रदायिक अनैक्य की दुहाई देने की कोई गुजाइश न थी । लीग और काग्रेस दोनो ने सम्मिलित योजना गढकर सरकार के सामने पेश की थी । पर सरकार ने उसे महत्व नही दिया । उसे अस्वीकार किया और इस तरह सारी आशाए निष्फल हुईं । जो लोग यह मानते है कि हिन्दू-मुस्लिम अनैक्य ही भारत को स्वतत्रता देने के लिए इग्लैंड के मार्ग मे बाधक है, उनके लिए यह पुरानी कहानी एक सबक है ।

आगे चलकर गाधीजी ने लिखा, "यदि मै अपने देशवासियो

को समझा सकू तो उनसे यह करवाऊं कि जग के जमाने में वे स्वराज्य का नाम भी न ले।"

वर्तमान युद्ध के आरम्भ में जब गाधीजी वाइसराय लिनलिथगो से मिले तो उसके बाद उन्होने अपने एक वक्तव्य मे कहा, "मुझे इस समय इस देश की स्वाधीनता का कोई खयाल नही है। स्वतत्रता तो आयेगी ही, पर वह किस काम की, यदि इग्लैड और फ्रास मर मिटे या मित्रराष्ट्र जर्मनी को तबाह और दीन करके जीते ?" इन दोनो उक्तियो मे भी वही सादृश्य जारी है।

आगे चलकर गाधीजी ने वाइसराय चेम्सफोर्ड को लिखा—"मैं चाहता हू कि भारत हर हट्टे-कट्टे नौजवान को ब्रिटिश राष्ट्र की रक्षा के लिए होम दे। मुझे यकीन है कि भारत का यह बलिदान ही उसे ब्रिटिश साम्राज्य का एक आदरणीय साझेदार बना देने के लिए पर्याप्त होगा। इस सकट के समय यदि हम साम्राज्य की जी-जान से सेवा करे और उसकी भय से रक्षा करदे, तो हमारा यह कार्य ही हमे हमारे ध्येय की ओर शीघ्रता से लेजायगा। अपने देशवासियो को मैं यह महसूस कराना चाहता हू कि साम्राज्य की सेवा यदि हमने करदी, तो उस क्रिया मे से ही हमे स्वराज्य मिल गया, ऐसा समझना चाहिए।"

आश्चर्य है कि गाधीजी ने उस समय जिस भाषा का उपर्युक्त उक्ति मे प्रयोग किया, करीब-करीब वही भाषा आज सरकारी हल्को द्वारा हमारी मागो के सबध मे प्रयोग की जाती है। वे कहते है कि इस समय केवल जग की ही बात करो, और जी-जान से हमारा पक्ष लेकर लडो। बस, इसीमे तुम्हे स्वराज्य मिल जायेगा। गत युद्ध मे भी सरकार की तरफ से कहा गया था कि इस समय हमे सारे घरेलू झगडो को भूलकर युद्ध मे दत्तचित्त होजाना चाहिए, और गाधीजी ने वैसा किया भी। भारत ने अपने नौजवानो की

बलि भी चढाई। धन को भी साम्राज्य-रक्षा के लिए फूका। पर उससे भारत को स्वतत्रता नही मिली। युद्ध के अत मे जब जलिया-वाला बाग आया, तब गाधीजी का यह विश्वास और श्रद्धा चल बसे, पर तो भी व्यवहार मे कोई फर्क नही पडा।

वर्तमान यूरोपीय युद्ध नम्बर दो मे गाधीजी ने जिस नीति का अवलबन किया है, वह भी शुद्ध सत्याग्रह है। पिछले युद्ध मे ब्रिटिश साम्राज्य की मनोवृत्ति मे उन्हे जो श्रद्धा थी, वह अब नही रही। पर सत्याग्रह की नीति ही उनके मतानुसार यह है कि जितनी ही अधिक बुराई विपक्ष मे हो, उतना ही ज्यादा हमे अहिसामय होने की जरूरत पडती है। इसलिए यद्यपि गाधीजी का असहयोग तो जारी है, पर इस सकट-काल मे इग्लैड जरा भी तंग हो ऐसा कोई भी कार्य करना उन्हे रुचिकर नही है। नतीजा यह हुआ है कि ज्यो-ज्यो इग्लैड की शक्ति कम होती गई, त्यो-त्यो गाधीजी इस बात का ज्यादा खयाल करने लगे कि ब्रिटिश सरकार को किसी तरह हमारी ओर से परेशानी न हो।

पर पिछले युद्ध और इस युद्ध मे एक और फर्क है और उस फर्क के कारण गाधीजी का युद्ध मे शरीक होना या न होना, इस निर्णय पर काफी असर पडा है।

गत युद्ध मे हम बिलकुल पराधीन थे, हमारी कोई जिम्मेदारी नही थी, हमारी कोई पूछ नही थी। हम उपद्रव करके अग्रेजो को सहायता मिलने मे कुछ हदतक रुकावट अवश्य डाल सकते थे, किंतु यह कार्य सत्याग्रही नीति और गाधीजी की अहिसा-नीति के खिलाफ होता। पर रुकावट डालना एक बात थी और सक्रिय सहायता देना दूसरी बात। रुकावट न डालते हुए भी सक्रिय सहायता देने मे हम असहयोग कर सकते थे, तो भी गाधीजी ने सक्रिय सहायता देना ही अपना धर्म माना। "हम जब इग्लैड द्वारा सुरक्षित है और खुशी-

खुशी उस सुरक्षा को स्वीकार करते है, तब तो हमारा धर्म होजाता है कि हम अंग्रेजो को सक्रिय सहायता दे और उनकी ओर से शस्त्र लेकर लडे भी।" पर इस तर्क मे आज की स्थिति मे कोई प्राण नही है। क्योकि तबकी और अबकी परिस्थिति मे काफी अतर पड गया है। इसलिए वह पुरानी दलील आज की स्थिति मे लागू नही होती।

इस बार युद्ध छिडा तब प्रातो मे प्रातीय स्वराज्य था और उनमे से आठ प्रातो मे तो स्वराज्य की बागडोर काग्रेस के हाथ मे थी। एक और प्रात मे भी, अर्थात् सिंध मे, आधी-पडधी बागडोर काग्रेस के हाथ मे थी। इस तरह कुल नौ प्रातो मे काग्रेस का आधिपत्य था। केंद्र मे भी स्वराज्य का वादा होचुका था। और अनुमान से भी यह कहा जासकता है कि हम पूर्ण स्वराज्य के काफी निकट पहुच गये है। इसलिए आज "उन्हीकी दी हुई रक्षा से हम सुरक्षित है" ऐसा नही कहा जासकता। आज हम इस योग्य बन गये है कि हम अपनी ही रक्षा से भी सुरक्षित होसकते है। हम गत युद्ध के समय जितने पराधीन थे उतने आज पराधीन नही है। हमे यह कहने का नैतिक स्वत्व—कानूनी न सही—अवश्य है कि हम अपनी रक्षा किस तरह करेगे, कैसे करेगे। जहा इग्लैड को परेशान न करना गाधीजी ने अपना धर्म माना वहा यह निश्चय करना भी उनका धर्म होगया कि भारतवर्ष पर आक्रमण हो तो उस आक्रमण का मुकाबिला—प्रतिरोध—हिसात्मक उपायो द्वारा करना या अहिसात्मक उपायों द्वारा। हम मारते-मारते मरे या बिना मारे भी मरना सीखे। तमाम परिस्थिति पर ध्यानपूर्वक सोच-विचार के बाद गाधीजी ने युद्ध छेडा तभी यह निश्चय कर लिया था कि उग्र हिंसा का सामना अहिंसा से ही होसकता है। अबीसीनिया, स्पेन और चीन के

युद्ध मे विपदग्रस्त राष्ट्रो को गाधीजी ने अहिंसा की ही सीख दी थी। जो सलाह अन्य विपदग्रस्त राष्ट्रो को दी गई थी, क्या उससे विपरीत सलाह अपने देशवासियो को दे ?

गाधीजी की दृष्टि से अहिसा की जीवित कसौटी का समय आचुका था। यदि अहिसा के प्रयोग की सक्रिय सफलता का प्रदर्शन करना है, तो इससे उत्तम अवसर और क्या होसकता था ? नैतिक और व्यावहारिक दोनो दृष्टियो से युद्ध छिडने से पहले ही गाधीजी इस निर्णय पर पहुच चुके थे कि इतनी उग्र और सुव्यवस्थित हिंसा का सामना कम-से-कम हिंदुस्तान तो हिसात्मक उपायो द्वारा कर ही नही सकता। उसके पास इतने उग्र साधन ही कहा है, जो सुव्यवस्थित मुल्को के शस्त्रास्त्रो से मुठभेड ले सके ? पर यह तो गौण बात थी। प्रधान बात तो यह थी, "क्या हम भयकर हिसा का अहिसा से सफल मुकाबिला करके ससार के सामने एक धार्मिक शस्त्र का प्रदर्शन नही कर सकते ?" और इसी विचार ने गाधीजी को इस निर्णय पर पहुचाया कि भारत और इग्लैड के बीच समझौता होने पर अग्रेजो को नैतिक सहयोग अवश्य दिया जाये, पर कम-से-कम काग्रेस हिसा में शरीक होकर अपनी नैतिक ध्वजा को झुकने न दे।

काग्रेस के दिग्गज इस नीति की उत्तमता को महसूस करते थे, पर इस मार्ग पर पाव रखने मे ही हिचकते थे। चक्रवर्ती राजगोपालाचार्य जैसे तीक्ष्ण बुद्धिवादी तो न लडने की नीति को धर्म भी नही मानते थे। युद्ध के शुरू-शुरू मे इस प्रश्न ने इतना जोर नही पकडा। काग्रेस की मागे सरकार के सामने रक्खी पडी थी। पर सरकार ने न तो उन्हे पूरा किया, न कोई आशा दिलाई। इस तरह काग्रेस के प्रस्ताव का मानसिक अर्थ दो पक्ष के लोगो का भिन्न-भिन्न था। गाधीजी सरकार से समझौता होने पर केवल नैतिक सहायताभर ही देना चाहते थे। अन्य दिग्गजो ने अपनी कल्पना पर भौतिक

जेल से छूटने के बाद
(दक्षिण अफ्रीका)

दक्षिण अफ्रीका के अन्तिम सत्याग्रह के समय का एक दृश्य
[गांधीजी के साथ श्री कॅलनबॅक, श्री आइजॅक और श्रीमती पोलक]

सहायता देना भी कर्तव्य मान रक्खा था। प्रस्ताव-पर-प्रस्ताव काग्रेस पास करती चली गई और इसकी द्विअर्थी भावना भी दोनो पक्ष अपने-अपने मन मे पुष्ट करते रहे।

गाधीजी ने तो लेखो, वक्तव्यों और वाइसराय की मुलाकातो मे इस चीज को स्पष्ट कर दिया था कि हिंदुस्तान तो अग्रेजो को नैतिक बल का ही दान दे सकता है। पर वाइसराय ने भी अपने मन मे अवश्य मान रक्खा होगा कि भौतिक बल का दान भी समझौता होने पर मिलना नितात असभव नही। दिन निकले, महीने निकले। जर्मनी की मृत्यु-बाढ एक के बाद दूसरे राष्ट्र को अपने उदर मे समेटती हुई आगे बढती चली। जब फ्रास का पतन हुआ, तब "मारते-मारते मरना" या "बिना मारे मरना" यह प्रश्न तेजी के साथ महत्वपूर्ण बन गया। अबतक जिस तरह मे दो पक्ष अपनी-अपनी कल्पना लेकर गाडी हाकते थे, वह अब असम्भव-सा होगया। गाधीजी शुरू से इस भेद को जानते थे। शुरू से अपने सहकर्मियो से कहते थे कि मुझे छोडदो। पर गाधीजी को जबतक राजी-खुशी उनके सहकर्मी छोड न दे, तबतक वह काग्रेस से निकल नही सकते थे। अत मे काग्रेस के दिक्पालो ने देख लिया कि गाधीजी को अधिक दिन तक निबाहना उनके प्रति सरासर अन्याय है और वर्धा मे २० जून १९४० को लम्बी बहस के बाद गाधीजी को बिदाई देदी।

यह भी गाधीजी के जीवन की एक अनोखी घटना थी। शायद इससे अत्यत मिलती-जुलती घटना हमारे पुराणो मे युधिष्ठिर के स्वर्गारोहण के वर्णन मे मिलती है। गाधीजी से अन्य नेताओ के इस मतभेद की चर्चा करते हुए मैने कहा, "बापू! इसे मतभेद नही कहना चाहिए। एक शक्कर ज्यादा मीठी हो और दूसरी कम मीठी हो, तो क्या हम यह कहेगे कि दोनो

शक्करो मे मतभेद है ? बात तो यह है कि आप जहां शुद्ध धर्म की बात करते है, वहा अन्य नेता आपद्धर्म की बात करते है। उनकी श्रद्धा इतनी बलवती नही है कि वे शुद्ध धर्म की वेदी पर कही जानेवाली व्यावहारिकता का बलिदान करदे। और आप यह आशा भी कैसे कर सकते है कि आपकी जितनी सजीव श्रद्धा सभीके हृदय-पट पर अपना प्रभुत्व जमाले ? जैसे युधिष्ठिर स्वर्ग मे गये तब एक-एक करके उनके निकटस्थ गिरते चले गये, उसी तरह आपका हाल है। ज्यो-ज्यो आप बढते है, ऊपर चढते है, त्यो-त्यो आपके साथी पिछडते जाते है, थकान के मारे गिरते जाते है।" पास मे बैठी हुई डा० सुशीला ने मजाक मे कहा, "पर युधिष्ठिर के साथ कुत्ता तो रहा। बापू ! इस दृष्टात से स्वर्ग मे पहुचनेवाला कुत्ता कौन-सा है ?" गाधीजी ने कहा, "पहले यह बताओ कि वह युधिष्ठिर कौन-सा है ?" विषय के गाभीर्य ने सबके चेहरो पर जो एक तरह की सलवटे डाल दी थी वे इस मजाक मे रफा हुई। सब खिलखिलाकर हस पडे।

पर इसका नतीजा क्या होगा ? अभी तो कालदेव इतिहास का निर्माण करते ही जाते है। अत तो बाकी है, होनहार भविष्य के गर्भ मे है। पर एक बात स्पष्ट होगई। काग्रेस की अहिसा-नीति, यह एक उपयोगितावाद था। गाधीजी की अहिसा, यह उनका प्राण है। पर कौन कह सकता है कि गाधीजी की अहिसा काग्रेस को प्रभावावित न कर देगी ? और जो अहिसा अबतक उपयोगिता के ढकने से ढकी थी वह अब अपना शुद्ध स्वरूप प्रकाशित न कर देगी ?

दो महीने तक उपयोगिता के सेवन के पश्चात बम्बई मे फिर गाधीजी के हाथ मे बागडोर सौपना क्या यह सिद्ध तो नही कर रहा है कि इच्छा या अनिच्छा से काग्रेस शुद्ध गाधीवाद की तरफ खिची जारही है ?

मेरा खयाल है कि जब बाहर के आक्रमणो से भारतवर्ष की रक्षा का प्रश्न सचमुच उपस्थित होगा, तब हमारे नेताओ का काफी हृदय-मथन होनेवाला है। हिसात्मक शस्त्रास्त्रो से किसी बडे राष्ट्र से मुकाबिला करने की हमारी हौस—यदि सचमुच वह हौंस हो तो—छोटे मुह बडी बात है। दूसरी ओर हमारे पास सत्याग्रह का एक शस्त्र है, जो चाहे सान पर चढकर सपूर्ण न भी बन पाया हो तो भी एक ऐसा शस्त्र है जो अन्य किसी राष्ट्र के पास आज नही है। इसलिए जिस दिन भारतवर्ष की रक्षा का प्रश्न सचमुच ही उपस्थित होगा उस दिन सत्याग्रह का शस्त्र गाधीजी जिदा हो और खटाई मे पडा रहे ऐसी सम्भावना नही। गाधीजी का तो यह भी विश्वास है कि भारत की जनता अहिसात्मक सग्राम मे पीछे नही रहेगी। श्रद्धा की कमी उनकी समझ मे नेताओ मे है, न कि जनता मे।

जो हो, एक चीज साबित हुई। वह है गाधीजी की अहिसा मे सजीव श्रद्धा। दूसरी चीज जो अभी साबित होनी बाकी है वह है अहिसा-शस्त्र का कौशल। उसके लिए, मालूम होता है, अवसर आरहा है। और यदि गाधीजी के जीवन मे वह अवसर आजाये और उसमे उस शस्त्र की विजय साबित होजाये, तो यह ससार के भविष्य के इतिहास-निर्माण के लिए एक अद्भुत घटना होगी।

पर बीच मे भविष्य की कल्पना आगई। जो हो, अग्रेजो को परेशानी न हो, गाधीजी की इस मशा का देश ने अबतक एक स्वर से पालन किया। खाकसारो ने उपद्रव किया, पर काग्रेस शात रही। वह बलवान की शाति थी। सहज ही आज काग्रेस लाखो आदमी कटा सकती है, जेले ठसाठस भर सकती है। पर गाधीजी ने शाति रखकर इस युद्ध के जमाने मे जनता पर उनका कितना काबू है यह साबित कर दिया। भारतवर्ष मे इतनी शाति

पहले कभी न थी जितनी आज है। हमने अपनी उदारता का प्रदर्शन कर दिया। इससे हमारी शक्ति साबित हुई है। हमारी नेकनीयती का प्रमाण मिला। शुद्ध सत्याग्रह का स्वरूप इग्लैड के सामने आ-गया। अग्रेजो से हमारी लडाई बद नही हुई है। मुमकिन है, जग के बाद उनसे लडाई हो। शायद बडी भयकर लडाई हो। यह भी मुमकिन है कि सरकार अपनी गलतियो से काग्रेस को झगडने के लिए बाध्य करे। पर गाधीजी अग्रेजो को परेशानी से बचाने के लिए कुछ भी उठा न रक्खेगे। आज अग्रेज त्रस्त है, इसलिए उनपर आज वार करना कायरता होगी। ऐसी भावना गाधीजी के चित्त मे अवश्य रही है। गाधीजी को स्वराज्य से भी सत्याग्रह प्रिय है। और गाधीजी तो मानते ही यो है कि स्वराज्य की अधिक-से-अधिक सेवा इसीमे है कि हम शुद्ध सत्याग्रह का अनुसरण करें। इसलिए गांधीजी ने ब्रिटिश सल्तनत को परेशानी से काफी बचाया। इग्लैड इसके लिए कृतज्ञ नही है और न इग्लैड की मनोवृत्ति मे कोई फर्क पडा है। पर गाधीजी आशा किये बैठे है कि "चमत्कार का युग गया नही है। जबतक ईश्वर है तबतक चमत्कार भी है।" इस श्रद्धा की भाप से गाधीजी का स्टीम-एजिन चला जारहा है।

वर्त्तमान युद्ध के समय मे गाधीजी मे एक बात और मैने देखी है। जबसे युद्ध चला है तबसे वह प्राय. सेवाग्राम मे ही रहना पसद करते है। अति आवश्यकता के कारण एक बार उन्हे बगाल जाना पडा। रामगढ-काग्रेस मे तो जाना ही था। वाइसराय के पास जब-जब जाना पड़ा तब-तब गये। पर इन यात्राओ को छोडकर और कही न तो जाना चाहते है, न बाहर जाने के किसी कार्यक्रम को पसद करते है। पहले के जो वादे बाहर जाने के थे, वे भी उन्होने वापस लौटा लिये। मुझसे भी एक वादा किया था, पर वह लौटा लिया

गया। क्यो ? "मुझे, जबतक लडाई चलती है, सेवाग्राम छोडना अच्छा नहीं लगता।" कुछ सोचते रहते होगे। पर कभी उन्हे विचार-मग्न नही पाया। फिर भी मालूम होता है कि वर्तमान युद्ध में उन्हें काफी विचार करना पडा है।

१४

पर गाधीजी कब सोचते है, यह प्रश्न सामने आता है। गाधीजी के पास इतना काम रहता है कि सचमुच यह कहा जासकता है कि उन्हे एक पल की भी फुर्सत नही रहती। मुझे अक्सर ऐसा लगा है कि काम के इतने बाहुल्य के कारण कभी-कभी महत्व के कार्य ध्यान से ओझल होजाते है और कम महत्व के कामो को आवश्यकता से अधिक समय मिल जाता है। द्वितीय गोलमेज परिषद् मे जब गये तब उनके मत्रिवर्ग मे वही लोग थे, जो सदा से उनके साथ रहे है। नये-नये कामो की बाढ-सी आरही थी और इसपर भी काम शीघ्र निपट जाये ऐसी व्यवस्था नही थी। सिवाय नये आदमी मत्रिवर्ग मे भर्ती करने के और क्या उपाय होसकता था ? पर यह गाधीजी को स्वीकार नही था। ज्यो-ज्यो काम बढ रहा था, त्यो-त्यो आपस मे बाट-चूटकर काम निपटाया जाता था। फलस्वरूप, गाधीजी की नीद मे कमी होती जारही थी।

लन्दन मे काम करते-करते रात के दो तक बज जाते थे। सुबह चार बजे प्रार्थना करके नौ बजे तक टहल-फिरकर, खा-पीकर तैयार होकर, फिर काम करना पडता था। चार घटे से ज्यादा तो नीद शायद ही कभी मिलती थी। इसलिए गाधीजी ने कान्फ्रेस मे ही, जब स्पीचे होती रहती थी, कुर्सी पर बैठे-बैठे आख मूदकर नीद लेना

शुरू कर दिया। मैंने टोका। कहा, "यह कुछ अच्छा नही लगता कि बडे-बडे लोग बैठे हो, व्याख्यान दिये जारहे हो, और आप सोते हो।" उत्तर मिला, "फिर क्या जागरण करके यहां बीमार पडना है ? और तुमने कभी देखा भी है क्या कि एक भी मर्म के व्याख्यान को मै न सुन पाया होऊ ?" यह बात सही भी थी । यहा भी उनका विवेक का मापदण्ड कुछ अलग ही था। न मालूम कौनसी वृत्ति काम करती थी ! जब कभी कोई महत्व का पुरुष बोलने खडा होता था, तो गाधीजी चट आखे खोल देते थे और समाप्ति पर फिर नीद लेलेते थे ।

पर मुझे यह स्थिति अच्छी नही लगती थी । साथवालो मे आपस मे हम लोग यह चर्चा किया करते थे कि बापू को चाहिए कि अपने मन्त्रिवर्ग मे कुछ नये आदमियों का और समावेश करे । इसकी क्या जरूरत है कि हर खत बापू या महादेवभाई ही हाथ से लिखे ? गाधीजी का दाहिना हाथ लिखते-लिखते थक जाता था, तो वह बाये हाथ से काम करने लगते थे। गोलमेज परिषद सम्बधी कामो की कभी-कभी वह अवहेलना भी करते थे। और इसके बदले गायों की प्रदर्शिनी मे जाना, विलायती बकरिया देखना, साधारण मनुष्यो से मिलना-जुलना, कई तरह की खब्तियो को काफी से ज्यादा समय देदेना, ये सब चीजे बढती जारही थी। अक्सर गरीबो के बच्चो से खेलते-खेलते कह दिया करते थे कि मेरी गोलमेज परिषद "सेण्ट जेम्स" महल मे नही, इन बच्चो के बीच मे है। ये सब चीजे पास मे रहनेवालो को खटकती भी थी। अब मै देखता हू तो लगता है कि गाधीजी ने गोलमेज परिषद की अवहेलना करके कुछ नही खोया। तो भी यह मै अब भी महसूस करता हू कि उनके पास काम ज्यादा है, आदमी कम। क्यो नही स्टेनो-टाइपिस्ट रखते, जिससे कि लिखा-पढी मे सुभीता हो, समय की बचत हो ? कई

मर्तबा मैने इसका जिक्र किया, पर कोई फल नही निकला।

पर प्रश्न तो यह है, "इतने काम के बीच इन्हे सोचने की फुर्सत कब मिलती है ?"

कितने ऐसे किस्से है, जिनपर उनका उनके साथियो से मत-भेद हुआ। कितनी घटनाए मुझे याद है, जिनके सम्बन्ध मे मुझे ऐसा लगा कि गाधीजी गलती कर रहे है और पीछे साबित हुआ कि गलती उनकी नही उनसे मतभेद रखनेवालो की थी। एक प्रतिष्ठित मित्र ने एक मर्तबा, जब एक घटना घट रही थी, कहा कि गाधीजी गलती कर रहे है। मैने भी कहा, "हा, गलती होरही है।" पर फिर उसी मित्र ने याद दिलाई कि हम लोगो ने कई मर्तबा जिस चीज को गाधीजी की भूल माना था वह पीछे से उनकी बुद्धिमत्ता साबित हुई। यह सच बात थी। यह आश्चर्य की बात है कि इतना काम और इतने जटिल प्रश्नो की समस्या और फिर इतना शुद्ध निर्णय। भूल मनुष्यमात्र करता है। गाधीजी भी भूल करते है। उन्होने अपनी कितनी भूलो का बढा-चढाकर जिक्र किया है। मजा यह है कि जिन चीजो को उन्होने भूल माना है उन्हे उनके साथियो ने भूल नही माना। बल्कि उनके साथियो ने यह माना कि गाधीजी ने अपनी भूल स्वीकार करने मे भूल की है। भूल मनुष्यमात्र करता ही है। गाधीजी भी करते है, पर सबसे कम।

गाधीजी का निर्णय करने का तरीका क्या है ? वह कैसे सोचते है ? इतने कामो के बीच कब सोचते है ? गाधीजी को मैने कभी विचारमग्न नही देखा। प्रश्न सामने आया कि झट गाधीजी ने फैसला दिया। बडे-बडे मौको पर मैने पाया है कि प्रश्न उपस्थित होगया है, निर्णय करने का समय आगाया है, पर जबतक ऐन मौका नही आया तबतक निर्णय नही करते।

गोलमेज परिषद की प्रथम बैठक मे उनका महत्त्वपूर्ण व्या-

ख्यान होनेवाला था, जो उनका प्रथम व्याख्यान था। उसे सुनने को, उनके विचार जानने को, सब लोग अत्यत उत्सुक थे। गाधीजी ने न कोई विचार किया, न तैयारी ही की, और वहा पहुचते ही धारा-प्रवाह मर्म की बाते उनकी जबान से निकलने लगती है। अत्यत महत्व के काम के लिए वाइसराय से मुलाकात करने जा रहे है। पाच मिनट पहले मै पूछता हू, "क्या कहेगे?" उत्तर मिलता है, "मेरा मस्तिष्क शून्य है। पता नही क्या कहूगा।" और वहा पहुचते ही कोई अनोखी बात कह बैठते है। यह एक अद्भुत चीज है।

अहमदाबाद मे मिल-मजदूरो की हडताल हुई। न्याय मजदूरो के साथ था, यह गाधीजी न माना था। मिल-मालिको से भी प्रेम था। इसलिए एक हदतक तो प्रेम का भी झगडा था। मजदूर पहले तो जोश मे रहे, पीछे ठढे पडने लगे। भूख के मारे चेहरो पर हवाइया उडने लगी। मजदूरो की सभा मे गाधीजी व्याख्यान देरहे थे। मजदूरो के चेहरे सुस्त थे। अचानक गाधीजी के मुह से निकल पडा, "यदि हडताली डटे न रहे और जबतक फैसला न हो तबतक हडतालियो ने हडताल को जारी न रक्खा, तो मै भोजन न छूऊगा।" यह अचानक निर्णय मुह से निकल पडा। न पहले कोई विचार उपवास का था, न कोई मन मे तर्क करके तत्त्व का मोल-तोल था। राजकोट का उपवास भी इसी तरह अचानक ही किया गया था।

१५

इन घटनाओ मे एक बात मैंने स्पष्ट पाई। गाधीजी निर्णय करने के लिए न विचार-मग्न होते है, न अपने निर्णय को विचार की कसौटी पर पहले कसते है। निर्णय पहले होता है, तर्क-दलील पीछे पैदा होती है। यही कारण है कि कभी-कभी उनकी दलीले कच्ची मालूम देती है, तो कभी-कभी **"घृताधारं पात्रं वा पात्राधारं घृतम्"** की तरह अत्यत सूक्ष्म या तोडी-मरोडी हुई या खीचातानी की हुई मालूम देती है। कभी-कभी ऐसी दलीलो के मारे उनके विपक्षी परेशान होजाते है। उन्हे चाणक्य बताते है। उन्हे उस मछली की उपमा दी जाती है, जो अपनी चिकनाहट के कारण हाथ की पकड मे नही आती और फिसलकर कब्जे से निकल जाती है।

पर दरअसल बात यह है कि गाधीजी की दलीले सहज स्वभाव की होती है। पर चूकि ये दलीले निर्णय के बाद पैदा होती है, न कि निर्णय दलील और तर्क की भित्ति पर खडा किया जाता है, इसलिए उनका सारे-का-सारा निर्णय तक कभी अनावश्यक जटिलता लिये, कभी चाणक्यीय वाग्जाल से भरा हुआ और कभी थोथा प्रकट होता है। और हो भी क्या सकता है? सूरज से पूछो कि आप सर्दी मे दक्षिणायन और गर्मी मे उत्तरायण क्यो होजाते हैं, तो क्या कोई यथार्थ उत्तर मिलेगा? सर्दी-गर्मी उत्तरायण-

दक्षिणायन के कारण होती है, न कि उत्तरायण-दक्षिणायन सर्दी-गर्मी के कारण। गाधीजी की दलीले भी वैसी ही है। वे निर्णय के कारण बनती है, न कि निर्णय उनके कारण बनता है। असल मे तो जबर्दस्त दलील उनके निर्णय के बारे मे यही होसकती है कि यह गाधीजी का निर्णय है। यह मै अतिशयोक्ति नही कर रहा हू, क्योकि मैने यह पाया है कि उनका निर्णय उनकी दलीलो से कही अधिक प्राबल्य रखता है, कही अधिक अकाट्य होता है।

"चार तरह के सत्यानाश" वाली स्वतत्रता-दिवस के उपलक्ष्य मे जो शपथ है, उसमे कथन है कि अग्रेजो ने भारतवर्ष का आर्थिक, राजनैतिक, सास्कृतिक और आध्यात्मिक नाश किया है। यह पुरानी शपथ है, जो वर्षों मे चली आती है। पर इस साल काफी कोलाहल हुआ। अग्रेजी पत्रकारो ने और कुछ अग्रेज नेताओ ने कहा कि "यह सरासर झूठ है। हम लोगो ने कब आध्यात्मिक या सामाजिक नाश किया ? यह कथन ही नितात असत्य है कि हमने भारतीय अध्यात्म या सस्कृति का खून किया है।"

बात मे कुछ वजन भी है, पर जैसा कि हर दफा होता है, गाधीजी जो कहते है उसका अर्थ जनता या सर्वसाधारण कुछ भी करे, गाधीजी को तो वही अर्थ मान्य है जो उनका अपना है। वह शब्दो के साहित्यिक अर्थ के कायल नही है। वह शब्दो मे जो तत्त्व भरा रहता है, उसके पक्षपाती है। काग्रेस ने कहा, आजादी चाहिए। गाधीजी ने कहा कि "हा, आजादी चाहिए।" पर जवाहरलालजी आजादी मागते है तो वह कुछ अलग चीज चाहते है। गाधीजी की आजादी अलग चीज है। गाधीजी की आजादी पूर्ण स्वराज्य तो है ही, पर कई पहलुओ से महज राजनैतिक आजादी की अपेक्षा अधिक जटिल भी है। गाधीजी के पूर्ण स्वराज्य मे अग्रेजो के लिए तो त्याग है ही, पर भारतीयो के लिए भी सुख की नीद नही। आजादी कहते-

कहते गाधीजी "पूर्ण स्वराज्य" शब्द का प्रयोग करने लगते हैं। फिर "रामराज्य" कह जाते है ।

असल मे तो वह रामराज्य ही चाहते है। कई मर्तबा उन्होने पाश्चात्य चुनाव-प्रणाली की निंदा की है और रामराज्य को श्रेष्ठ माना है। क्योकि उनकी दृष्टि मे रामराज्य के माने पूर्ण स्वराज्य होसकता है, पर पूर्ण स्वराज्य के माने राक्षस-राज्य भी होसकता है। जर्मनी स्वतत्र है, ऐसा हम मान सकते है। पर गाधीजी ऐसी स्वतत्रता नही चाहते। वह मुद्दे के पीछे चलते है, शब्द के गुलाम नही है। हलुवा कहो या और किसी नाम से पुकारो, वह एक पोषक और स्वादिष्ट भोजन चाहते है। वह शब्द का ऐसा अर्थ करते है कि जिसके पीछे कुछ मुद्दा रहता है, तथ्य रहता है। इसलिए हर शब्द का अपना अर्थ करते है और उसीपर डटे रहते है। इसमे बहुत गलतफहमिया होजाती है, पर इससे उनको व्याकुलता नही होती।

कास्टिट्यूएण्ट असेम्बली शब्द के अर्थ का भी शायद यही हाल है। रामगढ के सविनय आज्ञा-भग के प्रस्ताव के पीछे जो कैद लगी है उसको लोग भूल जाते है और आज्ञा-भग को याद रखते है। पर गाधीजी आज्ञा-भग को ताक पर रखकर उसके पीछे जो कैद है उसकी रटन करते है। लोग जब रसगुल्ला-रसगुल्ला चिल्लाते है, तब उनकी मशा होती है एक गोल, अडाकार सफेद चीज से, जो मीठी और रसभरी होती है। पर गाधीजी इतने से सतुष्ट नही। उन्हे गोलाकार, अडाकार या सफेद की परवा नही। चाहे चपटी क्यो न हो, चाहे पिलास लिये क्यो न हो, पर मीठी तो हो ही, ताजगी भी लिये हो। उसमे कोई जहर न मिला हो, स्वच्छ दूध की बनी हो, जो-जो उसमे वाछनीय चीजे होती है वे सब हो, फिर शक्ल चाहे कुछ भी हो, रगरूप की कोई कैद नही। शक्कर सफेद न हो और

लाल हो और उसके कारण रसगुल्ले का रग यदि लाल है तो उन्हे ज्यादा पसद है। गाधीजी ने जब "चार सत्यानाश" वाली शपथ का समर्थन किया तो उनका अपना अर्थ कुछ और था, काग्रेस का अर्थ कुछ और था।

इसलिए जब कुछ प्रतिष्ठित अग्रेजो ने इस शपथ की शिकायत की और इसे असत्य और हिसात्मक बताया तो झट गाधीजी ने अपनी व्याख्या दे डाली—"मेरे पिताजी सीधे-सादे आदमी थे। पाव मे नरम चमडे का देसी जूता पहना करते थे। पर जब उन्हें गवर्नर के दरबार मे जाना पडा, तो मौजा पहना और बूट पहने। कलकत्ते मे मैने देखा कि कुछ राजा-महाराजाओ को कर्जन के दरबार का न्यौता आया तो उन्हे अजीब तैयारिया करनी पडी। उनकी बनावट और स्वाग इतने भद्दे थे कि मानो वे खानसामा के भेष मे हो ऐसे लगते थे। हजारो भारतीय ऐसे है जो अग्रेजीदा तो बन गये, पर अपनी भाषा से कोरे है। क्या यह सस्कृति और अध्यात्म का ह्रास नही है? माना कि यह हमने अपनी स्वेच्छा से किया, पर स्वेच्छा से हमने आत्म-समर्पण किया, इससे क्या अग्रेजो का दोष कम होजाता है? जो बेडिया बदी को बधन मे रखती है, उन्हीकी यदि बदी पूजा करने लग जाये और अपने बधनकर्त्ता का अनुवर्तन करे तो फिर ह्रास का कौन-सा अध्याय बाकी रहा?"

यह कुछ अनोखी-सी दलील है, पर इस दलील ने "शपथ" से पैदा हुई कटुता को अवश्य ही कम कर दिया। साथ ही, गाधीजी के विपक्षियो को यह लगे बिना नही रहा कि बाल की खाल खीची जाती है। पर दरअसल बात तो यह है कि उस शपथ के माने गाधीजी के अपने और रहे है, लोगो के कुछ और। गाधीजी के निर्णय तर्क के आधार पर नही होते। तर्क पीछे आता है, निर्णय पहले बनता है। दरअसल शुद्ध बुद्धिवालो को निर्णय मे ज्यादा सोच-विचार नहीं

करना पडता। एक अच्छी बदूक से निकली हुई गोली सहसा तेजी के साथ निशाने पर जाकर लगती है। उसी तरह स्थितप्रज्ञ का निर्णय भी यत्र की तरह झटपट बनता है, क्योकि **"सत्य प्रतिष्ठायां क्रियाफलाश्रयत्वम् ।"**

पर यह उनकी विभूति---और इसे विभूति के अलावा और क्या कह सकते है ?---मित्र और विपक्षी दोनो को उलझन मे डाल देती है। यह चीज गाधीजी को रहस्यमय बना देती है। इसके कारण कितनेही लोग उनके कथन को अक्षरश न स्वीकार करके उसे शका की दृष्टि से देखते है ।

गाधी-अरविन पैक्ट के समय की बात है। करीब-करीब सारी चीजे तय होगई। एक-एक शब्द वाइसराय और गाधीजी ने आपस मे मिलकर पढ लिया। पढते-पढते वाइसराय के घर पर दोपहरी होगई। वाइसराय ने कहा "मै भोजन कर लेता हू। आप भी थक गये है। मेरे कमरे मे आप सो जाइए, फिर उठकर आगे काम करेगे।" गाधीजी सोगये। ढाई बजे सोकर उठे, हाथ-मुह धोया। गाधीजी का कथन है, "मुझे कुछ बेचैनी-सी मालूम हुई। मैने सोचा, यह क्या है ? बेचैनी क्यो है ? यह शारीरिक बेचैनी नही थी, यह मानसिक बेचैनी थी। मुझे लगा कि मै कोई पाप कर रहा हू। इकरारनामे का मसविदा मैने लिया और उसे पढना शुरू किया। पढते-पढते जमीन सबधी धारा पर पहुचते ही मेरा माथा ठनका। बस, मैने जान लिया, यही भूल होरही थी। वाइसराय से मैने कहा, यह मसविदा ठीक नही है। मै इसे नही मान सकता। यह सही है कि मैने इसकी स्वीकारोक्ति देदी थी, पर मैने देखा कि मै पाप कर रहा था। इसलिए मै इस स्वीकारोक्ति से वापस हटता हू।"

वाइसराय बेचारा हक्का-बक्का रह गया। यह भी कोई तरीका है ? दलीले तो गाधीजी के पास हजार थी और दलीले

शिकस्त देनेवाली थी। पर दलीलो ने नाट्य-मच पर पीछे प्रवेश किया, पहले आया निर्णय। अत मे वाइसराय दलीलो के कायल हुए। पर क्या वाइसराय ने नही माना होगा कि यह आदमी टेढा है ?

६ अप्रैल को सत्याग्रह-दिवस मनाया जाता है। इसके निर्णय का इतिहास भी ऐसा ही है। कुछ दिन पहले तक गाधीजी ने इसकी कोई कल्पना ही नही की थी। एक रात गाधीजी सो जाते है। रात को स्वप्न आता है कि तारीख ६ को सत्याग्रह-दिवस मनाओ। सहकर्मी कहते है कि अब समय नही रह गया, सफलता मुश्किल है। पर इसकी कोई परवा नही। मुनादी फिरादी जाती है और छ तारीख का दिन शान के साथ सफल होता है। क्या यह कोई दलील पर बना हुआ निर्णय था ? क्या सहकारियो ने नही सोचा होगा कि यह कैसा बेजोड आदमी है, जो हठात निर्णय करता है और दलीले पीछे से पैदा करता है ? पर मेरा खयाल है कि जो अतरात्मा से प्रेरित होकर निर्णय करते है, उनके निर्णय तर्क के आधार पर नही होते। पर यह अतरात्मा सभीको नसीब नही होती। यह क्या वस्तु है, इसके समझने का प्रयास भी कठिन है। प्रस्तुत विषय तो इतना ही है कि गाधीजी के निर्णय कैसे हुआ करते है।

१६

जबसे मुझे गाधीजी का प्रथम दर्शन हुआ, तबसे मेरा-उनका अविच्छिन्न सम्बन्ध जारी है। पहले कुछ साल मै समालोचक होकर उनके पास जाता था, उनके छिद्र ढूढने की कोशिश करता था, क्योकि नौजवानो के आराध्य लोकमान्य की ख्याति को इनकी ख्याति टक्कर लगाने लग गई थी, जो मुझे रुचिकर नही मालूम देता था। पर ज्यो-ज्यो छिद्र ढूढने के लिए मै गहरे उतरा त्यो-त्यों मुझे निराश होना पडा और कुछ अरसे मे समालोचक की वृत्ति आदर मे परिणत होगई, और फिर आदर ने भक्ति का रूप धारण कर लिया। बात यह है कि गांधीजी का स्वभाव ही ऐसा है कि कोई विरला ही उनके ससर्ग से बिना प्रभावान्वित हुए छूटता है।

हम जब स्वप्नावस्था मे होते है तब न करनेयोग्य कार्य कर लेते है, जो जाग्रत अवस्था मे हम कभी न करे। पर शारीरिक जाग्रत अवस्था मे भी मानसिक सुषुप्ति रहती है और ध्यानपूर्वक खुर्दबीन से अध्ययन करनेवाले मनुष्य को, रूहानी बेहोशी मे किये गये कामो से, उस तिल के तेल का माप मिल जाता है। गाधीजी से मेरा पच्चीस साल का ससर्ग रहा है। मैने अत्यत निकट से, सूक्ष्मदर्शक यत्र द्वारा, उनका अध्ययन किया है। समालोचक होकर छिद्रान्वेषण किया है। पर मैने उन्हे कभी सोते नही पाया। मालूम होता है,

वह हर पल जाग्रत रहते हैं। इसलिए जब वह मुझे कहते है कि, "हर पल मेरा जीवन ईश्वर-सेवा में व्यतीत होता है," तो मै इसमें कोई अतिशयोक्ति नही पाता। ऐसा कथन अभिमान की निशानी नहीं है; क्योंकि गांधीजी द्रष्टा होकर ही अपना विवेचन देते हैं। यदि द्रष्टा होकर कोई अपनेआपको देखे, तो फिर वह चाहे अपना विवरण दे या पराया, उसमे कोई भेद नही रह जाता। और वह अपना विवरण भी उतना ही नि सकोच देसकता है जितना कि पराया।

यरवडा मे जब वह उपवास के बाद उपवास करने लगे तो मुझे ऐसा लगा कि शायद अब वह सोचते होगे, "मै बूढा होकर अब जानेवाला तो हू ही, इसलिए क्यो न लडते-लडते जाऊ?" मैंने उन्हे एक तरह का उलाहना देते हुए कहा, "मालूम होता है कि आपने जीकर देश का भला किया, पर अब चूकि मरना है, इसलिए मृत्यु मे भी आप देश को लाभ देना चाहते है।" उन्होने कहा, "ऐसी कल्पना करना भी अभिमान है, क्योंकि करना, कराना, न कराना यह ईश्वर का क्षेत्र है। यदि इस तरह का मन मे हम कोई नकशा खीचे तो यह ईश्वर के अस्तित्व की अवहेलना होगी और इससे हमारा अभिमान साबित होगा।" मुझे यह सुनकर आश्चर्य हुआ, अहकार का उन्होने कहातक नाश किया है, इसका मुझे पता लगा।

अहकार से गाधीजी इतनी दूर है, यह उनके अतर मे झाकने से ही पता लग सकता है।

हरिजन-सेवक-संघ के हर पदाधिकारी को एक तरह की शपथ लेनी पडती है। उसका आशय है कि 'मै अपने जीवन मे ऊच-नीच का भेद नही मानूगा।' इस शपथ के लेने का समय आया तो मैंने इकार किया। मैंने कहा कि "केवल जन्म से न कोई ऊचा है न नीचा, यह तो मै सहज ही मान सकता हू। पर यदि एक आदमी चोर है, दुष्ट है, पापी है, उसके पाप-कर्म प्रत्यक्ष हैं और मुझमे वे ऐब नही है

तो मैं अभिमान न भी करू तो भी, इस ज्ञान से कि मैं अमुक से भला हू, कैसे वचित रह सकता हूं ? इसके माने यह हैं कि मैं द्रष्टा होकर भी यह मान सकता हूं कि मै अमुक से ऊंचा हूं, अमुक से नीचा।"

इस बहस ने उन्हे कायल नही किया, तो मैंने मुद्दे की दलील पेश की, "आप अपने ही को लीजिए। आप ईश्वर से अधिक निकट है बनिस्बत मेरे, अब क्या आप इस बात को आपमे अभिमान न होते हुए भी भूल जायेगे कि आप ऊचे है और मै नीचा हूं ?"

"पर यह बात ही सही नही है, क्योंकि जबतक हम अपनी मजिल तय न करले, कौन कह सकता है कि ईश्वर के निकट कौन है और दूर कौन ? जो दूर दिखाई देता है वह निकट भी होसकता है, और जो निकट दिखाई देता है वह दूर भी होसकता है। मै हिंदुस्तान से एक बार अफ्रीका जारहा था। जहाज पर ठीक समय पर नही पहुच सका। लगर उठ चुका था, इसलिए एक नाव मे बैठकर मुझे जहाज के पास पहुचाया गया। पर तूफान इतना था कि कई बार मेरी किश्ती जहाज़ के बाजू में टकरा-टकराकर दूर हट गई। अत मे जैसे-तैसे मुझे जहाज पर चढाया गया। पर यह भी संभव था कि जैसे किश्ती कई बार जहाज से टकराकर दूर निकल गई, वैसे दूर ही रह जाती और मै जहाज पर सवार ही न होपाता। क्या केवल किश्ती के छूजाने से हम यह कह सकते हैं कि हम जहाज के निकट पहुच गये ? निकट पहुचकर भी तो दूर चले जासकते है। तो मै फिर कैसे मानलू कि मै ईश्वर के निकटतर हू और अमुक मनुष्य दूर है ? ऐसी कल्पना ही भ्रममूलक है और अहकार से भरी है।"

मुझे यह दलील मोहक लगी। अधिक मोहक तो यह चीज लगी कि गाधीजी किस हदतक जाग्रत है। राजा का स्वाग भरनेवाला कलाकार अपने स्वाग से मोहित नही होता। गाधीजी अपने बडप्पन मे बेभान नही है। अहंकार मोह का एक दूसरा नाम है। जाग्रत

मनुष्य को मोह कहा, अहंकार कहा ? यही कारण है कि गांधीजी कभी-कभी निस्संकोच आत्मश्लाघा भी कर बैठते है। "मैं प्रचार-शास्त्र का पडित हूं; अखबारनवीसी मे निपुण हूं, मैं पक्का बनिया हू; मैं शरीर-शास्त्र का विद्यार्थी हूं; मेरा दावा है कि मैं अड़तीस वर्ष से गीता के अनुसार आचरण करता आरहा हू (यह सन् १९२९ ई० में इन्होंने लिखा था), मै सत्य का पुजारी हूं; मेरा जीवन अहर्निश ईश्वर-सेवा मे बीतता है।" इस शब्दावली मे और किसीके मुंह से अहंकार की गध आसकती है, पर गाधीजी के मुह से नही। क्योकि गांधीजी तटस्थ होकर अपनी विवेचना करते है।

एक दक्ष सर्जन छुरी लेकर चीरफाड करके मनुष्य-शरीर के भीतर छिपे हुए अवयवो को दर्शको के सामने ला देता है। सड़े हुए हिस्से को निर्दयता से काट डालता है, टाके लगाता है, और इस बेरहमी से छुरी चलाता नजर आता है मानो वह जिंदा शरीर पर नही बल्कि एक लकड़ी पर कौशल दिखला रहा हो। पर वही सर्जन यह व्यवहार अपने ऊपर नही कर सकता। ऐसा सर्जन कहा, जो हसते-हसते काम पडने पर अपनी सडी टाग को काट फेके ? पर गाधीजी वैसे सर्जन है। उनके स्नायु ममता-रहित होगये है, इसलिए गाधीजी जिस बेरहमी से परपुरुष को नश्तर मार सकते हैं उससे कही अधिक निर्दयता से अपने ऊपर नश्तर चला सकते है। "मैंने हिमालय के समान बडी भूल की है, मैंने अमुक पाप किया," ऐसी स्वीकारोक्तियो से उनकी आत्मकथा भरी है। क्या आश्चर्य है, यदि वह कहे कि "बुद्ध की अहिसा मेरी अहिसा से न्यून थी। टाल्स्टाय कभी अपने विचारो का पूर्ण अनुसरण नही कर सका, क्योकि उसके विचार उसके आचारो से कई मील आगे दौडते थे। मै अपने विचारो से अपने आचार को एक कदम आगे रखने का प्रयत्न करता आरहा हूं।" ये उक्तिया अभिमान की नही, एक

तटस्थ जर्राह की है, जो उसी दक्षता और कुशलता से अपनेआपको चीरफाड सकता है, जिस दक्षता से वह ओरो की चीरफाड़ करता है।

सूक्ष्मतया अध्ययन करनेवाले को सहज ही पता लग जाता है कि अभिमान गाधीजी को छू तक नही गया। मेरा खयाल है कि मनुष्यो की परख छोटे कामो से होती है, न कि बडे कामो से। बडे-से-बड़ा त्याग करनेवाला रोजमर्रा के छोटे कामो मे लापरवाही भी कर बैठता है और कभी-कभी अत्यत कमीना काम भी कर लेता है। कारण यह है कि बडे कामो मे लोग जाग्रत रहकर काम के साथ-साथ आत्मा को जोड देते है, इसलिए वह कार्य दिप उठता है। पर छोटे कामो मे लापरवाही मे मनुष्य असावधान बन जाता है। ऐसे मनुष्य के सम्बध मे यह साबित होजाता है कि उसका त्याग उसका एक स्वाभाविक धर्म नही बन गया है। पर गाधीजी के बारे मे यह कहा जासकता है कि चाहे छोटा हो या बडा, सभी काम वह जाग्रत होकर करते है। इसके माने यह है कि त्याग, सत्य, अहिसा इत्यादि उनका स्वाभाविक धर्म बन गया है। उन्हे धर्म-पालन करने मे प्रयत्न नही करना पडता और यदि प्रयत्न करना पडता है तो अत्यत सूक्ष्म। वह आठ पहर जाग्रत रहते है। यह कोई साधारण स्थिति नही है।

१७

-गाधीजी को एक महात्मा के रूप मे हमने देखा, एक नेता के रूप मे भी देखा, पर गाधीजी का असल रूप तो "बापू" के रूप में देखने को मिलता है। सेवाग्राम मे बडे-बडे मसले आते है। वाइसराय से खतोकिताबत होती है, वर्किग कमेटी की बैठके होती है, बडे-बडे नेता आते है। मन्त्रिमडल के लोग काग्रेस-राज के जमाने मे सलाह-सूत के लिए आते ही रहते थे। पर आश्रमवासी न बडे लोगो की चिट्ठियो से चौंधियाते है, न बडे नेताओ को देखकर मोहित होते है। न राजनीति मे उन्हे कोई बडी भारी दिलचस्पी है। उन्हे तो बापू ने क्या खाया, क्या पिया, कब उठ गये, कब सो गये, फला से क्या कहा, फला ने क्या सुना, इन बातो मे ज्यादा रस है। और गाधीजी भी आश्रम की छोटी-छोटी चीजो मे आवश्यकता से अधिक रस लेते है।

आश्रम भी क्या है, एक अजीब मडली है। उसे शिवजी की बरात कहना चाहिए। कई तरह के तो रोगी है, जिनकी चिकित्सा मे गाधीजी खास दिलचस्पी लेते है। पर सब-के-सब बापू के पीछे पागल है। मैंने एक रोज देखा कि एक रोगी के लिए जाडे मे ओढने के लिए रजाई बनाई जारही है। बा की फटी-पुरानी साड़िया, लाई गई। गाधीजी ने अपने हाथ से उन्हे नापा। कितना कपडा

लगेगा, इसकी कूत की गई। रजाई के भीतर रुई की जगह पुराने अखबारो को एक के ऊपर दूसरी परत रखकर कपडे के साथ सीया जारहा था। गांधीजी ने सारा काम दिलचस्पी से कराया। मुझे बताया कि अखबार रुई से ज्यादा गरम है। मुझे लगा कि ऐसे-ऐसे कामों मे क्या इनका बहुमूल्य समय लगना चाहिए? मैने मजाक में कहा, "जान पड़ता है, आपको आश्रम के इन कामो मे देश के बड़े-बडे मसलों से भी ज्यादा दिलचस्पी है।" "ज्यादा तो नही, पर उतनी ही है, ऐसा कहो।"

मै अवाक् रह गया। क्योकि गाधीजी ने गम्भीरता से उत्तर दिया था, मजाक मे नही। पर बात सच्ची है। शायद इसका यह भी कारण हो कि गाधीजी रात-दिन यदि गम्भीर मसलो पर ही विचार किया करे, तो फिर उन्हे तनिक भी विश्राम न मिले। शायद आश्रम उनके लिए परोपकार और खेल की एक सम्मिलित रसायन-शाला है। आश्रम गाधीजी का कुटुम्ब है। महान-से-महान व्यक्ति को भी कौटुम्बिक सुख की चाह रहती है। गाधीजी का वैसे तो सारा विश्व कुटुम्ब है, पर आश्रम के कुटुम्ब की उनपर विशेष जिम्मेदारी है। उस जिम्मेदारी को वह निर्मोही होकर निबाहते है।

आश्रम मे उन्होने इतने भिन्न-भिन्न स्वभाव और शक्ति के आदमी रक्खे है कि बाहरी प्रेक्षक को अचम्भा होता है कि यह शिवजी की बरात क्यो रक्खी है! परन्तु एक-एक का परिचय करने से पता चलता है कि हरेक का अपना स्थान है। बल्कि गाधीजी उनमे से कई को कुछ बातो मे तो अपनेसे भी अधिक मानते है। किसी आध्यात्मिक प्रश्न का निराकरण करना होता है तो वह अक्सर अपने साथियो—विनोबा, किशोरलाल भाई, काका साहब आदि को बुला लेते है। ऐसे साथियो को रखकर ही मानो उन्होने अपने मन में उच्च-नीच-भावना नष्ट कर डाली है। जो काम हलके-

से-हलका माना जाता है उसे करनेवाला और जो काम ऊचे-से-ऊंचा माना जाता है उसे करनेवाला दोनों आश्रम मे भोजन करते समय साथ-साथ बैठते हैं। जैसे पंक्ति मे उच्च-नीच का भेद नहीं है, वैसे ही गांधीजी के मन में और उनके आश्रमवासियो के मन मे भी यह भेद नही हैं।

कुछ दिन पहले की बात है। वाइसराय से मिलने के लिए गाधीजी दिल्ली आये हुए थे। पर वापस सेवाग्राम पहुचने की ताला-वेली लगी हुई थी। वापस पहुचने के लिए एक प्रकार का अधैर्य-सा टपकता था। अत में गाधीजी ने जब देखा कि शीघ्र वापस नही जासकते, तो महादेवभाई को झटपट सेवाग्राम लौटने का आदेश दिया। काम तो काफी पड़ा ही था और मैं नही समझ सका कि इतने बड़े मसले के सामने होते हुए कैसे तो वापस जाने का उतावला-पन वह खुद कर सकते थे और कैसे महादेवभाई को यकायक वापस लौटा सकते थे। मैंने कहा, "इतने बडे काम के होते हुए वापस लौटने का यह उतावलापन मुझे कुछ कम जचता हैं।" "पर मेरी जिम्मेदारी का तो खयाल करो।" गाधीजी ने कहा, "मैं तो सेवाग्राम में एक मजमा लेकर बैठा हू। रोगी तो है ही, पर पागलपन भी वहा है। कभी-कभी तो मन मे आता है कि बस अब मैं सब-को छोड़ दू और केवल महादेव को ही पास रक्खू। बा चाहे तो वह भी रहे। पर सबको छोड दू, तब तो जिम्मेदारी से हट जाता हू। पर जबतक इस मजमे की जिम्मेदारी लेकर बैठा हू, तबतक तो मुझे उस जिम्मेदारी को निबाहना ही चाहिए। यही कारण है कि मेरा शरीर तो दिल्ली मे है, पर मेरा मन सेवाग्राम मे पड़ा है।"

सेवाग्राम के कुटम्ब के प्रति उनके क्या भाव हैं, इसपर ऊपरी उद्गार कुछ प्रकाश डालते हैं।

१८

गाधीजी के यहा एक-एक पैसे का हिसाब रक्खा जाता है। गाधीजी की आदत बचपन से ही रुपये-पैसे का हिसाब सावधानी से रखने की रही है। गाधीजी व्यवस्थाप्रिय है। यह भी बचपन से ही उनकी आदत है। इसलिए उनकी झोपड़ी साफ-सुथरी, लिपी-पुती और व्यवस्थित है। कमर मे कछनी है, वह भी व्यवस्थित। वाइसराय ने कहा कि गाधीजी बुढ्ढे तो है, पर उनकी चमडी की चिकनाहट युवको की-सी है। यह सही बात है कि स्वास्थ्य का पूरा जतन रखते है। हर चीज मे किफायतशारी की जाती है। कोई पिन चिट्ठियो मे लगी आई, तो उसको निकालकर रख लिया जाता है।

लन्दन जाते समय जहाज पर एक गोरा था, जो गाधीजी को नित्य कुछ-न-कुछ गालिया सुना जाया करता था। एक रोज उसने गाधीजी पर कुछ व्यगपूर्ण कविता लिखी और गाधीजी के पास उसके पन्ने लेकर आया। गाधीजी को उसने पन्ने दिये, तो उन्होने चुपचाप पन्नो को फाडकर रद्दी की टोकरी मे डाल दिया और उन पन्नो मे लगी हुई पिन को सावधानी से निकालकर अपनी डिबिया मे रख लिया। उसने कहा, "गाधी, पढो तो सही, इसमे कुछ तो सार है।" "हा, जो सार था वह तो मैने डिबिया मे रख लिया है।" इसपर

सब हसे और वह अंग्रेज खिसियाना पड़ गया ।

मैंने देखा है कि छोटी-सी काम की चीज को भी गाधीजी कभी नही गवाते । एक-एक, दो-दो गज के सुतली के टुकड़ो को सुरक्षित रखते है, जो महीनो बाद काम पडने पर सावधानी से निकाल लेते है । उनके चरखे के नीचे रखने का काले कपडे का एक छोटा-सा टुकड़ा आज कोई बारह साल से देखता हू चला आ रहा है । लोगो की चिट्ठियो मे से साफ कागज निकालकर उसके लिफाफे बनवाकर उन्हे काम मे लाते है । यह दृश्य एक हद दर्जे के मक्खीचूस से भी बाजी मारता है ।

लन्दन की बात है । गाधीजी का नियत स्थान था शहर से दूर पूर्वी हिस्से मे । दफ्तर था पश्चिमी हिस्से मे, जो नियत स्थान से सात-आठ मील की दूरी पर था । दिन का भोजन दफ्तर मे ही—जो एक मित्र के मकान मे था—होता था । नियत स्थान से भोजन का सामान रोजमर्रा दफ्तर मे लेआया जाता था ।

भोजन के साथ-साथ कभी-कभी गाधीजी शहद भी लेते है । हम लोग इग्लैंड जाते समय जब मिश्र से गुजरे, तो वहाके मिश्री लोगो ने शहद का एक मटका भरकर गाधीजी के साथ देदिया था । उसीमे से कुछ शहद रोजमर्रा भोजन के लिए बरत लिया जाता था । उस रोज भूल से मीराबेन घर मे शहद लाना भूल गई और जब समय पर खयाल आया कि शहद नही है तो चार आने की एक बोतल मगाकर भोजन के साथ रखदी । गाधीजी भोजन करने बैठे तो नजर शीशी पर गई । पूछा—यह शीशी कैसे? उत्तर मे बताया गया कि क्यो शहद खरीदना पडा । "यह पैसे की बर्बादी क्यो ? क्या लोगो के दिये हुए पैसे का हम इस तरह दुरुपयोग करते है ? एक दिन शहद के बिना क्या मै भूखा मर जाता ?"

भारतवर्ष के बडे-बडे पेचीदा मसले सामने पडे थे । उनको किनारे

रखकर शहद पर काफी देर तक व्याख्यान और डाट-डपट होती रही, जो पास बैठे हुए लोगो को अखरी भी। पर गाधीजी के लिए छोटे मसले उतने ही पेचीदा हैं जितने कि बडे मसले। इसमें कभी-कभी लोगों को लघु-गुरु के विवेक का अभाव प्रतीत होता है। पास में रहनेवालो को झुझलाहट होती है, पर गाधीजी पर इसका कोई असर नही होता।

कपड़ो का खूब एहतियात रखते है। जरा फटा कि उसपर कारी लगती है। हर चीज को काफी स्वच्छ रखते है, पर कंजूसी यहातक चलती है कि पानी की भी फिजूलखर्ची नहीं करते। हाथ-मुह धोने के लिए बहुत ही थोड़ा-सा पानी लेते हैं। पीने के लिए उबला हुआ पानी एक शीशी मे रखते है, जो जरूरत पडने पर पीने और हाथ-मुह धोने के काम आता है।

१६

गाधीजी की दिनचर्या भी व्यवस्थित है। एक-एक मिनट का उपयोग होता है। बाहर से काफी भारी डाक आती है, उसका उत्तर भेजना पडता है। अक्सर वह खाते-खाते भी पढते है। कभी-कभी खाते-खाते किसीको वार्तालाप के लिए भी समय देदेते है। घूमने का समय भी बेकार नही गुजरता।

गाधीजी प्राय चार बजे उठते हैं। उठते ही हाथ-मुह धोकर प्रार्थना होती है। इसके बाद शौचादि से निवृत्त हो सात बजे सुबह कुछ हलका-सा नाश्ता होता है। उसके बाद टहलना होता है। फिर काम मे लग जाते है। नौ बजे के करीब तेल-मालिश कराते है, पर काम मालिश के समय भी चलता रहता है। फिर स्नान से निवृत्त होकर ग्यारह बजे भोजन करते है। एक बजेतक काम करके कुछ झपकी लेते है। दो बजे के करीब उठते है, उसके बाद फिर शौच जाते है। उस समय भी कुछ काम तो जारी रहता है। शौच के बाद पेट पर मिट्टी की पट्टी बाधकर कुछ विश्राम करते है, पर काम लेटे-लेटे भी जारी रहता है। चार बजे के करीब चर्खा कातते है। फिर लिखने-पढने का काम होता है। पाच के करीब शाम का ब्यालू होता है, उसके बाद टहलना। सात बजे प्रार्थना, फिर कुछ काम और नौ-साढे नौ बजे के करीब सोजाते है।

आवश्यकता होने पर रात को दो बजे भी उठ जाते है और काम शुरू कर देते है। गाधीजी का भोजन सीधा-सादा है, पर साल-दो साल से हेर-फेर होते रहते है। एक जमाना था, जब केवल मूगफली और गुड खाकर ही रहते थे। बहुत वर्षों पहले मैंने देखा था, वह दूध का बिलकुल परित्याग करके उसके बदले मे सौ से ज्यादा बादाम रोज खाते थे। कई वर्षों पहले एक मर्तबा यह भी देखा था कि रोटी का परित्याग करके करीब एक सौ खजूर खाते थे। इसी तरह एक जमाने मे रोटी ज्यादा खाते थे, फल कम खाते थे। इस तरह के प्रयोग और रद्दोबदल भोजन मे चलते ही रहते है। कुछ ही वर्षों पहले नीम की कच्ची पत्तिया और इमली का बडे जोरों मे प्रयोग जारी था, पर बाद मे उसे छोड दिया। कच्चे अन्न का प्रयोग भी बीमार होकर छोडा।

ये सब प्रयोग हर मनुष्य के लिए अवाछनीय है। आजकल गाधीजी का भोजन खूब खरखरी सिकी पतली रूखी रोटी, उबला हुआ साग, गुड, लहसुन और फल है। हर चीज मे थोडा-सा सोडा डाल लेते है। उनकी राय है कि सोडा स्वास्थ्य के लिए अच्छी चीज है। एक दिन मे पाच से अधिक चीजे गाधीजी नही खाते। इस गणना मे नमक भी शुमार मे आजाता है।

गाधीजी अपनी जवानी मे पचास-पचास मील भी रोजाना चल चुके है, पर बुढापे मे भी इन्होंने टहलने का व्यायाम कभी नही छोडा। कभी-कभी कहते है कि खाना एक रोज न मिले तो न सही, नीद भी कम मिले तो चिता नही, पर टहलना न मिले तो बीमारी आई समझो। पेट पर रोजमर्रा एक घंटे तक मिट्टी की पट्टी बाधे रखते है, इसका भी काफी माहात्म्य बताते है।

नीद का यह हाल है कि जब चाहे तब सो सकते है। गाधी-अरविन-समझौते के समय की मुझे याद है कि मेरे यहा कुछ अग्रेजो

ने गाधीजी से मिलना निश्चय किया था। निर्धारित समय से पद्रह मिनट पहले गांधीजी आये। कहने लगे, "मुझे आज नीद की जरूरत है, कुछ सो लू।" मैंने कहा, "सोने का समय कहा है? पद्रह मिनट ही तो है।" उन्होंने कहा, "पद्रह मिनट तो काफी है।" चट खटिया पर लेट गये और एक मिनट के भीतर ही गाढ निद्रा में सोगये। सबसे आश्चर्य की बात यह थी कि पद्रह मिनट के बाद अपनेआप ही उठ गये। मैंने एक बार कहा, "आपमे सोने की शक्ति अद्भुत है।" गाधीजीने कहा, "जिस रोज मेरा नीद पर से काबू गया तो समझो कि मेरा शरीरपात होगा।"

गाधीजी को बीमारो की सेवा का बडा शौक है। यह शौक बचपन से ही है। अफ्रीका मे सेवा के लिए उन्होने न केवल नर्स का काम किया, बल्कि एक छोटा-मोटा अस्पताल भी चलाया, यद्यपि अपनी 'हिन्द-स्वराज्य' नामक पोथी मे एक दृष्टि से उन्होंने अस्पतालों की निंदा भी की है। बीमारों की सेवा का वह शौक आज भी उनमे ज्यो-का-त्यो मौजूद है। वह केवल सेवा तक ही रस लेते हैं, ऐसा नही है। चिकित्सा मे भी रस लेते है और सीधी-सादी चीजो के प्रयोग से क्या लाभ होसकता है, इसकी खोज बराबर जारी ही रहती है।

कोई अत्यत बीमार पडा हो और मृत्यु-शय्या पर हो, और गाधीजी से मिलना चाहता हो, तो असुविधा और कष्ट बर्दाश्त करके भी रोगी से मिलने जाते है। मैंने कई मर्तबा उन्हे ऐसा करते देखा है, और एक-दो घटनाए तो ऐसी भी देखी है कि उनके जाने से रोगियो को बेहद राहत मिली।

बहुत वर्षों की पुरानी बात है। दिल्ली की घटना है। एक मरणासन्न रोगिणी थी। रोग से सग्राम करते-करते बेचारी के शरीर का ह्रास होचुका था। केवल सांस बाकी था। उसने जीवन से बिदाई ले-

ली थी। और लम्बी यात्रा करना है ऐसा मानकर राम-राम करते अपने अतिम दिन काट रही थी। पर गाधीजी से अपना अंतिम आशीर्वाद लेना बाकी था। रोगिणी ने कहा, "क्या गांधीजी के दर्शन भी होसकते है ? जाते-जाते अत मे उनसे तो मिल लू।" गांधीजी तो दिल्ली के पास भी नही थे, इसलिए उनका दर्शन असम्भव था। पर मरते प्राणी की आशा पर पानी फेरना मैने उचित नही समझा, इसलिए मैने कहा, "देखेगे, तुम्हारी इच्छा ईश्वर शायद पूरी कर देगा।"

दो ही दिन बाद मुझे सूचना मिली कि गाधीजी कानपुर से दिल्ली होते हुए अहमदाबाद आरहे है। उनकी गाड़ी दिल्ली पहुचती थी सुबह चार बजे। अहमदाबाद की गाडी पाच बजे छूट जाती थी। केवल घटेभर की फुरसत थी। और रुग्णा बेचारी दिल्ली से दस मील के फासले पर थी। घटेभर मे रोगी से मिलना और वापस स्टेशन आना, यह दुशवार था।

जाड़े का मौसम था। हवा तेजी से चल रही थी। मोटरगाडी मे—उन दिनो खुली गाडिया हुआ करती थी—गाधीजी को सवेरे-सवेरे बीस मील सफर कराना भी भयानक था। गाधीजी आरहे हे, इसका बेचारी रोगिणी को तो पता भी न था। उसकी तीव्र इच्छा गाधीजी के दर्शन करने की थी। पर इसमे कठिनाई प्रत्यक्ष थी। गाधीजी गाडी से उतरे। मैने दबी जबान मे कहा—"आप आज ठहर नही सकते ?" गाधीजी ने कहा, "ठहरना मुश्किल है।" मै हताश होगया। रोगी को कितनी निराशा होगी, यह मै जानता था।

गाधीजी ने उथलकर पूछा—"ठहरने की क्यो पूछते हो ?" मैने उन्हे कारण बताया। गाधीजी ने कहा—"चलो, अभी चलो।" "पर मैं आपको इस जाड़े मे ऐसी तेज हवा मे सुबह के वक्त मोटर मे बैठाकर कैसे लेजा सकता हू ?" "इसकी चिता छोडो। मुझे मोटर

में बिठाओ। समय खोने से क्या लाभ ? चलो, चलो।" गांधीजी को मोटर में बैठाया। जाड़ा और ऊपर से पैनी हवा। ये बेरहमी से अपनी शक्ति का प्रदर्शन कर रहे थे। सूर्योदय तो अभी हुआ भी न था। ब्राह्ममुहूर्त की शाति सर्वत्र विराजमान थी। रुग्णा शय्या पर पड़ी 'राम-राम' जप रही थी। गांधीजी उसकी चारपाई के पास पहुचे। मैंने कहा—"गाधीजी आये है।" उसे विश्वास न हुआ। हक्की-बक्की-सी रह गई। सकपकाकर उठ बैठने की कोशिश की; पर शक्ति कहा थी ? उसकी आखो से दो बूंदे चुपचाप गिर गईं। मैने सोचा, मैने अपना कर्तव्य पालन कर दिया।

रोगिणी की आत्मा को क्या सुख मिला, यह उसकी आखे बता रही थीं।

गाधीजी की गाड़ी तो छूट चुकी थी, इसलिए मोटर से सफर करके आगे के स्टेशन पर गाडी पकडी। गांधीजी को कष्ट तो हुआ, पर रोगी को जो शाति मिली उस सतोष मे गांधीजी को कष्ट का कोई अनुभव नही था।

थोडे दिनो बाद रोगिणी ने ससार से विदा ली, पर मरने से पहले उसे गाधीजी के दर्शन होगये, इससे उसे बेहद शाति थी।

हम भूखे को अन्न देते है, प्यासे को पानी देते है, उसका माहात्म्य है। रन्तिदेव और उसके बाल-बच्चो ने स्वय भूखे रहकर किस तरह भूखे को रोटी दी, इसका माहात्म्य हमारे पुराण गाते है। पर एक मरणासन्न प्राणी है, अतिम घडिया गिन रहा है, चाहता है कि एक पूज्य व्यक्ति के दर्शन कर लू। इस दर्शन के भूखे रोगी की भूख तृप्त होती है, उसे सतोष-दान मिलता है, इस दान का माहात्म्य कितना होगा ?

२०

गाधीजी इकहत्तर के होचले !

पच्चीस साल पहले जब मुझे उनका प्रथम दर्शन हुआ तब वह प्रौढावस्था मे थे, आज वृद्ध होगये। उस समय की सूरत-वेशभूषा का आज की सूरत-वेशभूषा से मिलान किया जाय तो बड़ा भारी अंतर है। हम जब एक वस्तु को रोज-रोज देखते रहते है तो जो दैनिक परिवर्तन होता है उसको हमारी आखे पकड नही सकती। परिवर्तन चोर की तरह आता है। इसलिए गाधीजी के शरीर मे, उनकी बोलचाल मे, उनकी वेशभूषा मे कब और कैसे परिवर्तन हुआ यह आज किसीको स्मरण भी नही है। मैंने जब गाधीजी को पहलेपहल देखा, तब वह अगरखा पहनते थे। फिर कुर्ता पहनने लगे और साफे की जगह टोपी ने लेली। एक सभा मे व्याख्यान देते-देते कुर्ता भी फेक दिया, तबसे घुटनो तक की धोती और ओढने की चादरमात्र रह गई।

पहले चोटी बिलकुल नही रखते थे। हरिद्वार के कुभ पर एक साधु ने कहा, "गाधी, न यज्ञोपवीत, न चोटी, हिंदू का कुछ तो चिन्ह रक्खो।" तबसे गाधीजी ने शिखा धारण कर ली। और वह एक खासी गुच्छेदार शिखा थी। एक रोज अचानक सिर की तरफ मेरी नजर पडी तो, देखता हू, शिखा नही है। शिखा के स्थान के

सब बाल धीरे-धीरे उड चले और जो शिखा धारण की गई थी वह अपनेआप ही बिदा होगई। शिखा के अभाव ने मुझे याद दिलाया कि जिन पाच तत्त्वो से एक-एक चीज पैदा हुई थी उन्हीमे धीरे-धीरे वे अब विलीन होरही है। दात सारे चले गये, पर कब-कब गये, कैसे-कैसे चुपके-से चलते गये, इसका पास रहनेवालो को कभी ध्यान नही है।

लोगो को अपने जीवन मे यश-अपयश दोनो मिले है। कभी लोकप्रियता आई, कभी चली गई। ड्यूक ऑफ वेलिंग्टन, नेपोलियन, डिजरायली इत्यादि राजनैतिक नेताओ ने अपने जीवन मे उतार-चढाव सब कुछ देखा। पर गाधीजी ने चढाव-ही-चढाव देखा, उतार कभी देखा ही नही। अपने जीवन मे बड़े-बडे काम किये। हर क्षेत्र मे कुछ-न-कुछ दान किया। साहित्यिक क्षेत्र भी इस दान से न बचा। कितने नये शब्द रचे, कितने नये प्रयोग चलाये, लेखन-शैली पर क्या असर डाला, इसका तलपट भी कभी लगेगा।

किसीने मिसेज बेसेट से पूछा था कि हिदुस्तान मे हमारी सबसे बडी बुराई कौन-सी है? मिसेज बेसेट ने कहा, "हिन्दुस्तान मे लोग दूसरे को गिराकर चढने की कोशिश करते है, यह सबसे बडी बुराई है।" चाहे यह सबसे बडी बुराई हो या न हो, पर इस तरह की बुराई राजनैनिक क्षेत्र मे अक्सर यहा पाई जाती है। पर गाधीजी ने जमीन से खोद-खोदकर हीरा निकाला। उन्होंने राख छान-छानकर सोना जमा किया। सरदार वल्लभभाई को बनाने का श्रेय गाधीजी को है। राजगोपालाचार्यजी को, राजेद्र-बाबू को गढा गाधीजी ने। सैकडो दिग्गज और लाखो सैनिक गाधीजी ने पैदा किये। करोड़ो मुर्दा देशवासियो मे एक नई जान फूक दी। छोटे-छोटे आदमियो को काट-छाटकर सुघड बना दिया। "चिड़ियों से मै बाज लड़ाऊ, तब गोबिन्दसिह नाम रखाऊ।"

जिन गाधीजी की ऐसी देन रही, वह अब बुड्ढे होते जारहे है। कब बुड्ढे होगये, इसका हमे ध्यान नही रहा।

"दिन-दिन, घड़ी-घड़ी, पल-पल, छिन-छिन स्रवत जात जैसे अंजुरी को पानी" ऐसे आयु बीतती जारही है। पर गाधीजी लिखते है, बोलते है, हमारा सचालन करते है, इसलिए उनके शारीरिक शैथिल्य का हमे कोई ज्ञान भी नही है। हमने मान लिया है कि गाधीजी का और हमारा सदा का साथ है। ईश्वर करे, वह चिरायु हो!

यदि कोई अपनी जवानी देकर गाधीजी को जिदा रख सके तो हजारो युवक अपना जीवन देने के लिए उद्यत होजाये। पर यह तो अनहोनी कल्पना है।

अत मे फिर प्रश्न आता है गाधीजी का जीवनचरित्र क्या है?

राम की जीवनी को किसी कवि ने एक ही श्लोक मे जनता के सामने रख दिया है

आदौ रामतपोवनाधिगमनं, हत्वा मृगं काञ्चनं।
वैदेहीहरणं जटायुमरणं सुग्रीवसंभाषणम्।
बालीनिग्रहणं समुद्रतरणं लंकापुरीदाहनं।
पश्चाद्रावणकुंभकर्णहननम् एतद्धि रामायणम्॥

गाधीजी की जीवनी भी शायद एक ही श्लोक मे लिखी जा सके, क्योकि एक ही चीज आदि से अत तक मिलती है—अहिसा, अहिसा। खादी कहो या हरिजन-कार्य, ये अहिसा के प्रतीक है। पर एक बात है। राम के जीवन को अकित करनेवाला श्लोक अत मे बताता है, **"पश्चाद्रावणकुम्भकर्णहननम्।"** क्या हम गाधीजी के बारे मे

'आदौ मोहन इंग्लैंडगमनं विद्याविशेषार्जनम्
अफ्रीकागमनं कुनीतिदमनं सत्याग्रहान्दोलनम्
धृत्वा भारतमुक्तये प्रयतन शस्त्रं त्वहिंसामयम्

अस्पृश्योद्धरणं स्वतन्त्रकरणं ....
इत्यादि-इत्यादि कहकर अत मे कह सकते हैं "पारतंत्र्य-विनाशनम् ?"

कौन कह सकता है ? गाधीजी अभी जिन्दा हैं।

थोडे ही दिन पहले चीन-निवासी एक विशिष्ट सज्जन ने उनसे प्रश्न किया, "क्या आप अपने जीवन मे भारत को स्वतत्र देखने की आशा करते हैं ?' "हा, करता तो हू। यदि ईश्वर को मुझसे और भी काम लेना है तो जरूर मेरे जीवन-काल मे भारत स्वतत्र होगा। पर यदि ईश्वर ने मुझे पहले ही उठा लिया, तो इससे भी मुझे कोई सदमा नही पहुचेगा।"

पर कौन कह सकता है कि भविष्य मे क्या होगा ?

"को जाने कल की ?"

—समाप्त—